

शिक्षा की धारणा: ज्ञानमीमांसीय द्वन्द्व और शैक्षणिक सुधार

□ अमिता शर्मा

अनुवाद : त्रिभुनाथ दुबे, निरंजन सहाय

समकालीन शिक्षा-विमर्श की प्रकृति अपेक्षाकृत गंभीर और बहुआयामी हुई है तथापि शिक्षा के दार्शनिक उत्सों पर कम विचार हुआ है। प्रस्तुत लेख भारत में बहुप्रचलित औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली के स्रोतों की मुकम्मिल आलोचना प्रस्तुत करता है। स्कूल की भौतिक अवस्थिति पर जोर, शिक्षण-विधियों और शैक्षणिक गुणवत्ता के प्रति क्रमशः उदासीनता और उपेक्षा-भाव, पाठ्य-वस्तुओं की बद्धमूल संरचना एवं परीक्षा-तंत्र की यांत्रिक निष्ठुरता व सतहीपन इस आलोचना के दायरे में हैं। एक भिन्न शिक्षा-दर्शन और वैकल्पिक शिक्षण-प्रक्रिया को प्रस्तावित करते हुए लेख में समुदाय, मूल्यों और कला-शिक्षण को पुनर्व्याख्यायित किया गया है।

यह आलेख कुछ वर्षों के दौरान शिक्षा, विशेषतः प्राथमिक शिक्षा में किए गये प्रयासों से अर्जित दृष्टिकोण को सामने रखता है। भारत में शिक्षा को श्रेणीबद्ध रूप में देखने की प्रवृत्ति रही है। यहां सर्वाधिक तरजीह उच्च शिक्षा को और फिर नीचे की ओर क्रमशः सबसे कम महत्त्व प्राथमिक या बुनियादी शिक्षा को दिया जाता है। शायद यही कारण है कि बुनियादी शिक्षा और साक्षरता इस देश में अन्य देशों की अपेक्षा अब तक सबसे कम रही है। तथापि शैक्षिक प्रक्रिया के बुनियादी और सर्वाधिक असुरक्षित स्तर का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि यही शिक्षा का सबसे अधिक रचनात्मक स्तर है जहां शिक्षा के दर्शन को समृद्ध करने में केन्द्रीय मुद्दे (चिन्तायें) बिल्कुल साफ एवं पारदर्शी रूपों में दिखते हैं। इनमें से अनेक मुद्दे जो संवेदनशील विश्लेषण के लायक होते हैं; उससे वंचित रह जाते हैं क्योंकि वे प्राथमिक शिक्षा से जुड़े होने मात्र से अपना महत्त्व खो देते हैं। यह दुखद है क्योंकि ये मुद्दे वास्तविक अर्थों में शिक्षा की नींव होते हैं और जिस तरीके से उनकी व्याख्या की जाती है उससे एक समग्र शिक्षा तंत्र का निर्माण होता है। यह आलेख उनमें से कुछ खास मुद्दों को छांटकर बहस के लिए प्रस्तुत करता है।

यह महसूस किया जाता है कि इस तरह की बहस की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि आजकल शिक्षा श्रेष्ठ चितकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रही है, सरकारी एजेन्डे पर उच्च प्राथमिकता लिए हुए है और विदेशी आर्थिक सहायता की रुचि का भी क्षेत्र है, जबकि देश में शिक्षा पर स्वयं के द्वारा किये जाने वाले वित्तीय खर्च लगातार कम होते हा रहे हैं। भारत में शिक्षा पर ज्यादातर समकालीन लेखन वर्तमान व्यवस्था, विशेषकर सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध आरोप-पत्र है। इसका प्रत्युत्तर सार्वजनीन शिक्षा हेतु त्वरित कार्यवाही के लिए की जाने वाली भावुकता भरी वकालत

से दिया जाता है। क्रोध, ग्लानि, चिंता एवं ईमानदार प्रयास के इस मिले जुले रुझान में हमें यह सदा याद रखना चाहिए कि ये मुद्दे संपूर्ण साक्षरता ही नहीं बल्कि शैक्षणिक सुधारों से भी जुड़े हैं। शैक्षणिक सुधार मात्र शिक्षा को एक 'क्षेत्र' के रूप में लेकर ही नहीं है बल्कि मानव-बोध एवं मानव-मूल्यों के संदर्भ में भी है। हम इसकी जैसी व्याख्या करेंगे, शिक्षा की प्रवृत्ति एवं उसमें सुधार भी वैसा ही होगा। मानव जीवन एवं मूल्यों की व्याख्या करते समय वैचारिक अस्पष्टता और केन्द्रीय मुद्दों की उपेक्षा एक मूर्खतापूर्ण स्थिति को पैदा करते हैं जिससे शैक्षिक सुधार संबंधी प्रश्न दुर्भाग्यवश अछूते रह जाते हैं। विशिष्ट 'क्षेत्रीय' और अनुभागीय समस्याएं गंभीर दार्शनिक भ्रम के लक्षण हैं।

यह आलेख इस विश्वास पर आधारित है कि शिक्षा-तंत्र मूर्त एवं अमूर्त रूप में एक दार्शनिक सोच को प्रतिबिम्बित करता है। शिक्षा इन दार्शनिक अभिधारणाओं व दृष्टिकोण को प्रकट करती है। यह दृष्टि आत्म, मानस एवं विश्व को विश्लेषित करती है। ये तत्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय विश्लेषण सामाजिक, सांस्कृतिक स्वरूपों व संबंधों को प्रभावित करते हैं। यहां पर 'ज्ञान-मीमांसीय' शब्द का प्रयोग दार्शनिक व्याख्याओं एवं सामाजिक सांस्कृतिक स्वरूपों, उनके अन्तर्सम्बन्धों के संयुक्त अर्थ के रूप में किया गया है। शिक्षा इन दार्शनिक अभिधारणाओं (पॉस्चुलेट्स) को अभिव्यक्त करती है। क्रिया-सिद्धांतों के रूप में निर्मित होने पर ये अभिधारणाएं विश्व, इसमें संबंध एवं इसके संसाधनों को निर्देशित तथा नियंत्रित करने वाली विचारधाराएं बन जाती हैं। इसलिए शिक्षा-पद्धतियां चाहे कितनी भी निष्पक्ष क्यों न हों, स्वयं में एक विचारधारा का बीज धारण किए रहती हैं। इसी कारण शिक्षा-पद्धतियों को वैचारिक मंथन के लिए छूट देनी चाहिए। वह शैक्षिक व्यवस्था जो वैचारिक

संघर्ष की छूट देती है उस व्यवस्था से बेहतर होती है जो आलोचना को निरुत्साहित करती है।

ज्ञानमीमांसा की दो प्रमुख धारणाएँ हैं जो ज्ञान की संरचना, अर्थ एवं सत्य को परिभाषित करती हैं। पहली, जो यह मानती है कि वास्तविकता भौतिक है और वह जिन सिद्धांतों द्वारा संचालित होती है उसे मानव-मस्तिष्क द्वारा जाना जा सकता है। विवेक इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य तथ्यों पर आधारित होता है एवं मस्तिष्क संवेदी तंत्रिकाओं का क्रियात्मक सम्मिश्रण है। तथ्य वे हैं जो जाने एवं अनुभव से सत्यापित किये जा सकते हैं। जो अनुभव से सत्यापित या सार्वभौमिक सत्य के रूप में व्यक्त नहीं किये जा सकते, वे न तो सत्य हैं न ही तथ्य। विकास एवं वृद्धि वातावरण और भौतिक स्थितियों के प्रभाव पर आश्रित होते हैं। यह दृष्टि मुख्य रूप से प्रत्यक्षवादी कही जा सकती है। इस प्रकार की दृष्टि की प्रामाणिकता कुछ खास तरह के अध्ययनों के लिए होती है जो मुख्य रूप से प्राकृतिक दुनिया पर केन्द्रित होते हैं। इसका समग्र ज्ञानमीमांसा में सामान्यीकरण करने पर समस्या पैदा होती है। यह आनुभाविक आधार पर सत्यापित न की जा सकने वाली सभी धारणाओं को अमूर्तिकरण, अतः अयथार्थ, मानकर त्याग देता है। यह दृष्टिकोण कई प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न कर सकता है। यह व्यक्तिनिष्ठता एवं प्रयोगात्मक-अन्तर्दृष्टि को अपर्याप्त आधार समझकर त्याग देता है। प्रायः अपनी पद्धति को सभी अध्ययन क्षेत्रों में प्रसारित करने के प्रयास में तथ्य प्रस्तुतिकरण हेतु व्यक्तिनिष्ठ अनुभूतियों की जगह तथ्यपरकता को प्राथमिकता देता है। इस प्रकार मानव-व्यवहार एवं मानव-संबंध जैसे विषय भी प्राकृतिक वस्तु की तरह देखे जा सकते हैं जिनके बारे में नियम बनाये जा सकते हैं या पर्याप्त तथ्यों के आधार पर जिनका सिद्धांत-प्रतिपादन भी संभव है।

सिद्धांत-निर्माण की यह प्रक्रिया एक विरोधाभास में फंस जाती है; यह प्रक्रिया उन सापेक्ष या इन्द्रिय सत्यापन से परे के विषयों पर सार्वभौम सिद्धांत बनाती है जो परिभाषिक रूप से सत्य की इस कोटि के हैं ही नहीं। ऐसे निरपेक्षीकरण, सुविचारित एवं निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये जा सकते हैं, या यह सचमुच ही इस विश्वास पर आधारित हो सकता है कि मानव-व्यवहार प्राकृतिक पदार्थों की तरह समझे जा सकते हैं और जिनके बारे में नियम निर्माण एवं तथ्य-निरूपण वैसे ही संभव है जैसे प्रकृति के बारे में है। ये कुछ रोचक राजनीतिक, सांस्कृतिक प्रभावों को प्रदर्शित करते हैं। भौतिक परिस्थितियों एवं संपदाओं का नियंत्रण सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हो जाता है। शुभ को भौतिक अर्थों में ही समझने की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। यह स्थान (स्पेस) एवं प्राकृतिक संपदाओं पर जीत हासिल करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हुए मानव-जीवन को केवल मानव-संपदा के अर्थ तक सीमित करता है। साथ ही उस

संपदा रूपी मानव-जीवन को नियंत्रण के योग्य भी बनाता है। उपनिवेशवाद इसी प्रकार की ज्ञान-पद्धति की अनिवार्य अभिव्यक्ति है। यह क्षेत्र एवं मानव-संसाधन दोनों के ही उपनिवेशीकरण के संदर्भ में कहा जा सकता है। वैसे लोग भी जो राजनीतिक उपनिवेशीकरण का विरोध करते हैं, वे भी एक विचार को, एक नियम या सामान्य इच्छित व्यवहार के रूप को निरपेक्ष रूप से स्थापित कर, कुछ को नियंत्रणकर्ता एवं कुछ को उस नियंत्रण के अधीन बनाने के प्रयास में, स्वयं मानसिक रूप से उपनिवेशवादी हो सकते हैं।

यह विश्वास, कि बाहरी भौतिक दुनिया ही ज्ञान का स्रोत है और इसलिए उसे प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा समान रूप से जाना जा सकता है, सबके लिए समान शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराने का आधार बनाना चाहिये। लेकिन इस धारणा के विपरीत वास्तव में यह विचारधारा तो असमानता पैदा करती है। शिक्षा के अवसर कभी भी समान नहीं होते। क्षमताएं कभी भी एक जैसी नहीं होतीं। वास्तव में एक खास तरह की सूचनाओं का महत्व वर्धन तो असमान शिक्षा के लिए प्रेरक ही बनता है। 'तथ्यों' के सहारे विशिष्ट विचारों को सिद्धांत के रूप में वैधता प्रदान करना, और फिर उसे ही सत्य या प्रमाणित नियम के रूप में प्रस्तुत करना असमानता को और बढ़ाता है। ज्ञान के नाम पर कुछ के पास तो बेहतर तथ्यों का जखीरा होता है, और कुछ दूसरों के पास मात्र सापेक्ष विश्वास और क्षुद्र दक्षतायें भर। यह स्थिति उच्चतर और निम्नतर संस्कृतियों की एक असमान सामाजिक व्यवस्था को जन्म देती है जो उनके अपने पूर्वाग्रहों की अन्तर्क्रिया से प्रभावित होती है और लोगों के अधिकारों तथा समानता के विधि-विधान को निरस्त कर देती है।

दूसरी ज्ञान-मीमांसा की पूर्व धारणा मानव मस्तिष्क के सहज रचनात्मक सिद्धांत पर बल देती है। ज्ञान इन्द्रिय-बोध के आधार पर अर्जित तथ्यों, सहज रचनात्मकता तथा सूझ-बूझ की क्षमता से निर्मित होता है। इस क्षमता के कारण ही मनुष्य अपने प्रत्यक्ष बोध को ज्ञान के रूप में परिवर्तित कर पाता है। इसलिए जहां कुछ चीजें, जैसे भौतिक दुनिया और उसके नियम, समान और असंदिग्ध रूप से जाने-समझे जा सकते हैं, वहीं कुछ चीजों को अलग-अलग अर्थों में लिया जा सकता है। मानव स्वत्व मात्र भौतिक सत्ता नहीं है, यह अलग एवं विशिष्ट रचनात्मक क्षमताओं द्वारा सुसज्जित होता है और इसलिए ऐसे विश्व की कामना करता है जो मात्र नैतिकता की सीमाओं से बंधा नहीं हो। इस प्रकार भौतिकता एक वास्तविकता अवश्य है, लेकिन यह एकमात्र वास्तविकता नहीं है। जहां विभिन्न चिन्तन-धाराओं में मतभेद है कि सत्य भौतिकता से अधिक कुछ है या नहीं, वहीं इस बात को लेकर आम सहमति है कि सत्यता, वास्तव में नैतिकता एवं आनुभाविकता से सत्यापित की जा सकने

वाली उपलब्धि मात्र ही नहीं है और ज्ञान सक्रिय रचनात्मक सिद्धांत का परिणाम है, जो केवल भौतिक विश्व का विस्तार नहीं होता। शिक्षा-प्रक्रिया को इस रचनात्मकता के सतत् विकास एवं उसकी अभिव्यक्ति में सहायक होना चाहिए। शिक्षा की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह किस हद तक मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण क्षमताओं को खोजने में सक्षम बनाती है, साथ ही कैसे आलोचनात्मक दृष्टि एवं सम-अनुभूति के आधार पर दुनियादारी से अपने संबंध विकसित करती है।

यह बुद्धिवादी-उदार दृष्टि मत-भिन्नता के प्रति सहनशीलता, प्रश्न करने की प्रवृत्ति और व्यक्ति-निष्ठता को महत्व देने जैसी विशेषताओं के द्वारा एक सांस्कृतिक लोकाचार का निर्माण करती है। मानव मस्तिष्क की इस सहज किन्तु सर्व प्रमुख रचनात्मक क्षमता में विश्वास ही मानव प्राणियों में एक आधारभूत समानता पैदा करता है। यह बराबरी की भावना विभिन्नताओं को आदरपूर्वक देखती है। व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता हर एक में अलग अलग तरह से प्रकट होती है और जटिल तत्वों पर आश्रित रहकर भी गतिशील रहती है। ये विभिन्नताएं विषमताओं के रूप में नहीं देखी जातीं। वे व्यक्ति की विशिष्टता

से निर्मित होने के कारण ही मूल्यवान होती हैं। समता, न तो सभी को एक जैसा बना देना है और न ही मानकीकरण एवं समानीकरण के लिए हठधर्मिता है। समता की अवधारणा इस मान्यता पर टिकी हुई है कि व्यक्तिगत विविधताओं को समाहित करके ही, व्यक्ति के विशिष्ट गुणों को विकसित करने के साथ-साथ सभी में आवश्यक सामान्य कार्य कुशलताएं एवं क्षमताएं विकसित की जा सकती है। समता की यह अवधारणा, समानीकृत करने की आम दिलचस्पी से हटकर, व्यक्तिगत विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति को समान अवसर प्रदान करने में तत्पर दिखती है। राजनैतिक रूप से यह उदारवाद, मानववाद एवं प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण से जुड़ी होती है। यानी एक ऐसी राजनैतिक व्यवस्था जो विरोध, प्रतिवाद, वैकल्पिक चिन्तन एवं विविधताओं को समुचित स्थान देती है। अर्थात् समान रूप से प्रमाणिक लेकिन अलग-अलग दृष्टिकोण एक साथ रह सकते हैं, अतः संस्कृति को यहां बहुलतावादी रूप में देखा जाता है। वे प्रभावशाली उपदेश जो लोगों की प्रमुख सांस्कृतिक धारणाओं को बनाने की कोशिश करते हैं लगातार चुनौतियों का सामना करते हैं, उनकी आलोचना होती है और पिछड़ी हुई ज्ञान-विधियां उस

सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में विशिष्ट घटक की तरह स्थान पाने की कोशिश में लगी रहती हैं। वाद-विवाद की ऐसी स्वतंत्रता एवं वैचारिक द्वन्द्व का ऐसा तनाव, सहिष्णुता और बौद्धिक स्वायत्तता से सम्पन्न संस्कृति को जन्म देते हैं। ऐसे में 'जानने के स्वरूप' में केवल परंपरा, प्रयोग एवं देशकाल, द्वारा स्वीकार कर लेने के बजाए सीखने के वैध तरीके के रूप में प्रश्नाकुलता का वातावरण क्रमशः बढ़ता जाता है। साथ ही अ-श्रेणीकृत संबंधों की तरफ बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। संरचनाएं खुलने लगती हैं तथा परंपरावादी सत्ता से निसृत संबंध लुप्त होने लगते हैं। सामान्य शब्दों में, ऐसी परिस्थिति में जनतांत्रिक संस्कृति के विकसित होने के अवसर विस्तृत होने लगते हैं।

औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा उत्तरी भारत के सरकारी प्राथमिक विद्यालयों में सुस्पष्ट रूप में दीखती है। इसलिए यह ज्ञानमीमांसा सबसे हावी पद्धति के रूप में ख्यात है। बुद्धिवादी-उदारवादी दृष्टिकोण नवाचारी शैक्षिक पहलों में दिखाई देता है, जो प्रायः सरकारी दायरे से बाहर हैं एवं वैकल्पिक शिक्षा के रूप में पहचानी जाने लगी हैं।

इन दोनों ज्ञान-मीमांसीय ढांचों में कुछ आभासी समानताएं दिखने के साथ-साथ कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण असमानताएं भी हैं। दोनों ही भौतिक विश्व में लागू होने वाले सार्वभौमिक परम सिद्धांत की खोज की संभावना को स्वीकारते हैं। दोनों ही मानते हैं कि मानव अनुभव के क्षेत्र में कोई अपरिवर्तनीय सार्वभौम नियम काम नहीं करता। दोनों में निर्णायक अन्तर तत्वमीमांसीय है। प्रत्यक्षवादी भौतिक वास्तविकता को ही एकमात्र वास्तविकता मानकर सापेक्षिक और व्यक्तिनिष्ठ को खारिज कर देते हैं। उनका प्रयास सदैव यही रहता है कि कैसे भौतिक-वास्तविकताओं पर आधारित मानव क्रियाओं का वैश्विक सिद्धांत बनाया जाये। बुद्धिवादी-उदारवादी दृष्टिकोण भौतिक वास्तविकता को एक प्रकार की वास्तविकता मानकर अन्य प्रकार की वास्तविकताओं के अर्थ एवं अनुभव की भी खोज करता है। अतः व्यक्ति निष्ठता इसके लिए मूल्यवान है तथा सापेक्षिकता इसके लिए न तो असत्य या अर्द्धसत्य है और न ही आनुभाविकता से सत्यापित वृहत्तर वैश्विक सत्यों से प्रमाण पत्र प्राप्त कर सार्थकता प्राप्त करने वाला दृष्टिकोण। बल्कि वह तो ऐसा न होकर अपने आप मूल्यवान, सार्थक और प्रासंगिक है।

शिक्षा-तंत्र से हम क्या पाते हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि शिक्षा को कैसे परिभाषित किया गया है। अलग-अलग मीमांसीय खाके/सांचे, शिक्षा की अन्तर्वस्तु, शिक्षा की संरचना एवं सीखने के तरीके को, सीखने वाले के जीवन से संबंध को, अलग-अलग तरह से निर्धारित करते हैं। यद्यपि अधिकांश शिक्षण तंत्रों में प्रयोग में लायी जाने वाली भाषा एक ही होती है परन्तु उस भाषा की व्याख्या और समझ, उपरोक्त दोनों ज्ञान मीमांसाओं में कौन-

सा दृष्टिकोण शिक्षा पद्धति में अन्तर्निहित है, पर निर्भर करती है। औपनिवेशिक ज्ञानमीमांसा उत्तरी भारत के सरकारी प्राथमिक विद्यालयों में सुस्पष्ट रूप में दीखती है। इसलिए यह ज्ञानमीमांसा सबसे हावी पद्धति के रूप में ख्यात है। बुद्धिवादी-उदारवादी दृष्टिकोण नवाचारी शैक्षिक पहलों में दिखाई देता है, जो प्रायः सरकारी दायरे से बाहर है एवं वैकल्पिक शिक्षा के रूप में पहचानी जाने लगी हैं। प्रश्नों के माध्यम से ही शिक्षा संबंधी विचार की जांच-पड़ताल की जा सकती है। जैसे, विद्यालय क्या है? विद्यालय की विद्यार्थियों तक पहुंच कैसे है? तथा समाज की एक आधारभूत संस्था के रूप में विद्यालय समाज से कैसे जुड़ता है? इन प्रश्नों की जांच कुछ शब्दों के जरिये की जाती है और इस शब्दावली से वर्तमान शिक्षा-विमर्श लगभग अभिभूत है। यह शब्दावली एक आम प्राथमिक विद्यालय के विश्लेषण में सक्रिय होती है। इस शब्दावली के उदाहरण हैं : पहुंच, संरचना (विद्यालय क्या है); सृजनात्मकता, सक्षमता, मूल्यांकन, (विद्यालय में पढ़ाई कैसी होती है) समुदाय मूल्य (विद्यालय का समाज से क्या रिश्ता है?)। ये मुद्दे घुल-मिल जाते हैं। किस प्रकार इस शब्दावली का प्रयोग किया जायेगा, यह अन्तर्निहित मीमांसीय मान्यताओं पर निर्भर करता है। यहां कहा जा रहा है कि इच्छित शैक्षिक सुधार अन्तर्निहित मीमांसीय दृष्टिकोणों के आन्तरिक तनाव के कारण संभव नहीं हो पाते। ये तनाव उन परस्पर विरोधी परिप्रेक्ष्यों के बीच होते हैं जो बाहर से व भीतर से उन्हें प्रभावित करते हैं।

शुरूआत पहुंच से करते हैं। पहुंच शब्द का प्रयोग बताता है कि स्कूल को कैसे आत्मसात किया गया है। विद्यालय के संदर्भ में जो प्रभावशाली समझ है उसमें भौतिकता का भाव अत्यधिक है। विद्यालय को मुख्य रूप से भौतिक रूप में ही महसूस किया और जाना जाता है। विद्यालय शिक्षकों और कुछ वस्तुओं का मेल है। विद्यालय की इस भौतिक समझ के कई निहितार्थ हैं -

1. पहचान/अस्मिता का विशेषीकरण
2. चिन्तन में कालगत क्रम
3. लाक्षणिक महत्व
4. बहिष्करण

पहचान के विशेषीकरण से तात्पर्य विद्यालय को एक भौतिक स्थान के रूप में समझने से है। यानी शैक्षिक प्रक्रिया को भौतिक स्थान के गुणों के रूप में ही समझा जाने लगता है (स्थल की प्रकृति भी पूर्व कल्पित होती है) और इसीलिए यह मान लिया जाता है, शैक्षिक प्रक्रिया उस भौतिक स्थान मात्र में ही निहित होती है। विद्यालय की पहचान इस बात से बनती है कि विद्यालय ने कैसा भौतिक स्थान प्राप्त किया है और इसके समग्र भौतिक गुण क्या हैं?

वास्तव में भौतिक स्थान शिक्षा का लगभग पर्याय-सा बन जाता है। यह विद्यालय की अवधारणा में श्रेणीकरण को जन्म देता है। विद्यालय को एक भौतिक संरचना के रूप में रहने दिया जाता है। इसके शैक्षिक परिणामों को गुणात्मकता का मुद्दा समझ कर छोड़ दिया जाता है क्योंकि ये बाद में उभर कर आते हैं। शिक्षा और विद्यालय के बीच समय के साथ दूरी बढ़ती जाती है। यद्यपि यह माना जा सकता है कि गुणात्मक विकास में समय लगता है। लेकिन समस्या तब आती है जब भौतिक संरचना को ही, चाहे लक्ष्य की पूर्ति हुई हो या नहीं, अपने आप में पूर्ण मान लिया जाता है और यह विचित्र भले ही लगे लेकिन स्वतंत्रता के बाद भारत के शैक्षिक नियोजन में शिक्षा का यही श्रेणीकरण अपने विकृत और विस्तृत रूप में दिखता है। शिक्षा संबंधी संपूर्ण चिंतन को अपने आधारभूत स्तर, प्रवेश, ठहराव और उपलब्धि के रूप में श्रेणीबद्ध कर दिया गया है मानो इतिहास के कालक्रमानुसार ये एक के बाद एक आने वाले प्रगतिशील चरण हों। विद्यालय की यह स्थूल समझ प्रवेश, ठहराव एवं उपलब्धि के प्रयोग में साफ दिखती है।

क्या बिना बच्चों एवं बिना ज्ञानार्जन के कोई विद्यालय संभव है? फिर भी हम एक बड़े ही अद्भुत एवं अनुपम शैक्षिक तंत्र का दावा करते हैं, जहां भौतिक रूप में खड़े विद्यालय तो हैं लेकिन आश्चर्यजनक रूप से ज्ञान के आदान-प्रदान से परे हैं। यह स्थानवाची पहचान एवं श्रेणीगत अवबोध चिंतन का सबसे खतरनाक दुष्प्रभाव है। यदि सशक्तिकरण की एक परिभाषा संसाधनों तक पहुंच है तो शैक्षिक-विमर्श में संसाधन के रूप में हमें उन विचारों और ज्ञान को मानना होगा जिनसे ज्ञानार्जन संभव हो पाता है, न कि भौतिक वस्तुओं को। शिक्षा और विद्यालय की स्थिति घटते-घटते गौण हो जाती है। विद्यालय शिक्षा का पर्याय बन जाता है और शिक्षा विद्यालय से भी कम अर्थपूर्ण हो जाती है। विद्यालय के भौतिक गुण, विद्यालय के पक्ष में खड़े होते हैं। विद्यालय की स्थानवाची पहचान, शिक्षा की अवधारणा पर हावी हो जाती है। यही विद्यालय को 'बहिष्करण' का स्थल बनाती है। यह बहिष्करण सामाजिक, सांस्कृतिक और ज्ञान-मीमांसीय है। भौतिक स्थल के रूप में विद्यालय सदैव सामाजिक प्रभुता के धरातल पर चित्रित होता है, क्योंकि समाज में सम्पन्न लोग दिखावे के माध्यम से अपनी सम्पन्नता प्रदर्शित करते हैं तथा सामाजिक पहचान एवं जन-सामान्य की गतिविधियों को निर्धारित करते हैं। समाज में शक्ति की समझ एवं उसके प्रयोग को व्यक्त करने के तरीकों के जरिये ही इस भौतिक स्थल में प्रवेश की रूपरेखा तैयार होती है। विद्यालय अपने सांस्कृतिक प्रतिमान सामाजिक रूप से प्रभावशाली समूहों से प्राप्त करता है और इस तरह वह दूसरे तरह की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को या तो ठुकराता है या अपने अनुसार रूपान्तरित करने की कोशिश करता

है। शिक्षा के प्रारूप, संस्कृति के प्रभावी प्रारूपों से निसृत होते हैं। इस तरह विद्यालय की भौतिक निष्पत्ति सम्पन्न होती है।

विद्यालय की आन्तरिक संरचना उन्हीं भौतिक घेरावों को प्रकट करती है जिस तरह के घेरावों की सीमाओं को शिक्षा प्रक्रियाएं ढोती हैं। शिक्षण-प्रक्रियाएं देशकाल के नियम अन्तरालों में जकड़ी होती है। विद्यालयों में औपचारिक श्रेणियों का रेखीय संगठन होता है, प्रत्येक श्रेणी एक एक मानकीकृत वर्ष से संबंध रखती है, जहां बच्चे हर वर्ष एक श्रेणी/कक्षा से दूसरी श्रेणी या कक्षा में क्रमोन्नत होते हैं। ईसाई कैलेंडर का विस्तार बच्चों के सीखने में लगे आवश्यक समय का मापक होता है। श्रेणीगत शिक्षण तंत्र यह मान लेता है कि एक बच्चे में विभिन्न विषयों को सीखने की क्षमता कमोबेश एक जैसी होती है, तथा वह निरन्तर त्वरित गति से पढ़ता चला जाता है। विद्यार्थी प्रायः एक सजातीय समूह समझ लिये जाते हैं और यह भी माना जाता है कि बच्चों के बीच अन्तर मानकीकृत प्रचलनों के माध्यम से सुधारा जा सकता है।

बच्चे यदि सभी विषयों में अच्छे होते हैं तो उन्हें क्रमोन्नत कर दिया जाता है या एक भी विषय में अच्छा न होने पर उन्हें उसी कक्षा में रोक लिया जाता है। अर्थात् उनकी गति सदैव ऊपर की ओर होती है, अन्यथा वे स्थिर होते हैं। प्रायः उन्हें उत्तीर्ण कर दिया जाता है, यद्यपि उनमें आवश्यक जानकारी की कमी होती है। कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जो कुछ विषयों में तो काफी प्रगति कर सकते हैं लेकिन कुछ में उनकी गति धीमी होती है। यहां तक कि विषय मात्र में ही विभिन्न मुद्दों पर कई प्रकार के कारणों से किसी बच्चे के अकादमिक रुझान एवं उसके सीखने की गति के प्रति असंवेदनशीलता बच्चे की शैक्षणिक आधार भूमि में कई गलतियों को बढ़ाती है। मानकीकृत श्रेणीगत दृष्टिकोण इन व्यक्तिगत खामियों या उतार-चढ़ाव को, जो समेकित औसत में विलीन हो जाते हैं, बर्दाश्त नहीं करता।

इस प्रकार की संगठनात्मक पद्धति, अनुकूल परिस्थितियों वाले बच्चों को बढ़ावा देती है एवं अन्य इससे उपेक्षित रह जाते हैं। स्वभावतः यह प्रवृत्ति उन बच्चों को जो शिक्षण तंत्र के साथ समन्वय नहीं बिठा पाते, शारीरिक रूप से विद्यालय परित्याग न सही, लेकिन बौद्धिक एवं भावनात्मक स्तर पर विद्यालय परित्याग को निश्चित रूप से बढ़ावा देती है। क्योंकि ऐसे शिक्षण तंत्र में बड़े ही मनमाने एवं कठोर तरीके से समय और स्थान जैसी श्रेणियों द्वारा

विभाजन कर, शिक्षण प्रक्रिया को संगठित करने हेतु बच्चों पर दबाव डाला जाता है।

विद्यालय परित्याग की समस्या से चिन्तित होकर विद्यालय के परे(बाहर) अतिरिक्त संरचनाएं निर्मित की जाती हैं। या तो इस प्रकार के प्रयोग असफल हो जाते हैं, क्योंकि वे खुद उस विद्यालयीय संरचना के प्रारूप पर आधारित होते हैं जिसमें इस समस्या को जन्म दिया जाता है, या वे सफल होने के बाद यह समझ नहीं पाते कि कैसे मुख्यधारा के शिक्षण तंत्र के साथ जुड़ा जाए। एक स्तर पर

विद्यालय परित्याग संबंधी बड़ी चिन्ता के साथ मुख्यधारा एवं पूरक शिक्षण व्यवस्था या तो एक दूसरे के लिए अड़चन बन जाती है या अल्प-कालिक सफलता फिर से समस्याएं खड़ी कर देती है क्योंकि विद्यालय की कठोर औपचारिक प्रकृति में व्यक्त बाह्य समझ की समीक्षा नहीं की जाती है। स्पष्ट रूप से समान दिखने वाले श्रेणीगत अंतराल सीखने की सर्वाधिक असमान प्रक्रिया को छुपा देते हैं और इन असमानताओं को और भी गंभीर बनाते रहते हैं, क्योंकि संरचना के असहनीय अनुशासन से राहत नहीं मिलती है। बच्चा संरचना का एक अंग होता है। चूंकि संरचना स्थिर होती है, इसलिए वह बच्चे को भी अपने भीतर दबा

लेती है। विद्यालय का कठोर औपचारिकतावाद बच्चे को विकेंद्रित कर देता है। बच्चे का यह विकेंद्रीकरण ही वास्तव में उसके द्वारा विद्यालय-परित्याग है भले ही वह शारीरिक रूप से विद्यालय में उपस्थित ही क्यों न हो। विद्यालय का यह परित्याग विद्यालयों में दिखता नहीं है। यह कुछ हद तक बच्चों के निम्न स्तरीय शैक्षिक प्रदर्शन, रुकावट, डर एवं बच्चों के विद्यालय न जाने की जिद के माध्यम से प्रकट होता है। लेकिन इनमें से कुछ को ही विद्यालय परित्याग का कारण माना जाता है और इन कारणों को भी शिक्षण की समस्या न मानकर सामाजिक या व्यक्तिगत समस्या मान लिया जाता है।

इसके विपरीत, वैकल्पिक शिक्षा पद्धति विद्यालय के भौतिक स्वरूप को समाप्त कर देती है। शिक्षा कागजी शब्दों से संदर्भ की तरफ अग्रसर होती है। यह विद्यालय की शैक्षिक प्रक्रिया और विद्यालय के संगठन के तरीकों में झलकती है।

यह भौतिक संरचनाओं के नियतिवादी स्वरूप को अस्वीकार करती है। ये संरचनाएं यहां सीखने की प्रक्रियाओं को परिलक्षित

**विद्यालय शिक्षा का पर्याय बन जाता है और शिक्षा विद्यालय से भी कम अर्थपूर्ण हो जाती है।
विद्यालय के भौतिक गुण, विद्यालय के पक्ष में खड़े होते हैं।
विद्यालय की स्थानवाची पहचान, शिक्षा की अवधारणा पर हावी हो जाती है। यही विद्यालय को 'बहिष्करण' का स्थल बनाती है। यह बहिष्करण सामाजिक, सांस्कृतिक और ज्ञान-मीमांसीय है।**

करती हैं और इनमें तरलता और गतिशीलता दोनों ही शामिल रहती हैं। इसका विस्तृत विवेचन कठिन है क्योंकि उस संगठनात्मक पद्धति की, जो विचारों की गतिशील प्रक्रिया को अभिव्यक्त करती है, न तो कोई एक सुनिश्चित परिपाटी है, न ही कोई पूर्व कल्पित स्थिर भौतिक संरचना। यहां एक श्रेणीविहीन शिक्षण व्यवस्था के बारे में बात करेंगे जो कुछ खास वैकल्पिक विद्यालयों में पायी जाती है। इसका उपयुक्त उदाहरण 'दिगन्तर' है जो एक गैर सरकारी संस्था के रूप में राजस्थान में काम कर रहा है। श्रेणीविहीन विद्यालय इस विश्वास पर संगठित होते हैं कि बच्चों के सीखने की गति अलग-अलग होती है। यह अन्तर केवल बच्चों में ही नहीं होता बल्कि खुद बच्चों के भीतर उनकी अलग-अलग विषयों को सीखने की क्षमताओं में भी होता है। एक बच्चे में अलग-अलग विषयों के प्रति अलग-अलग रुचि हो सकती है, यहां तक कि एक ही विषय में वह सभी योग्यतायें हासिल नहीं कर सकता, चाहे उसे सभी अपेक्षित सुविधायें मुहैया क्यों न करायी गयी हों। इसके अलावा बच्चे के सीखने की गति कई कारणों से समय-समय पर कम या अधिक हो सकती है। शिक्षक का प्रयास प्रत्येक बच्चे में सीखने की क्षमता का विकास करना और बच्चों में पायी जाने वाली विषमता को दूर करना होना चाहिए। यह माना जाता है कि यह तभी संभव हो पायेगा, जब इस प्रकार की शिक्षण पद्धति का प्रयोग हो, जो बच्चों के व्यक्तिगत रूप से सीखने की गति और उनके बीच के अन्तर के प्रति संवेदनशील हो इसलिए विद्यालय की संरचना श्रेणीविहीन होती है। श्रेणी के बजाय वहां समूह होते हैं। ये समूह विषयवार होते हैं। ये समूह स्थिर नहीं होते। समूहों की संख्या, बच्चों में पाये जाने वाले औसत शैक्षणिक स्तर के आधार पर सुनिश्चित होती है और इसलिए यह बदलती रह सकती है। कोई बच्चा अपने ज्ञानार्जन के आधार पर अपना समूह बदलकर अपने से ऊंचे या नीचे समूह में जा सकता है जब तक कि वह आवश्यक शैक्षिक स्तर को प्राप्त नहीं कर लेता है। समूह एक सामूहिक इकाई के रूप में आगे नहीं बढ़ता है बल्कि अलग-अलग बच्चे आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार समूहों का निर्माण बच्चों के स्तर में परिवर्तन के कारण होता है। ऐसे विद्यालय की शैक्षिक-संरचना, वैसी शिक्षा प्रक्रिया को प्रकट करती है जो बच्चों के सीखने की गति के प्रति संवेदनशील हो। विद्यालय, शिक्षकों और बच्चों के बीच एक परस्परिक प्रक्रिया है। शिक्षा की ऐसी समझ में, शिक्षा की प्राप्ति एवं शिक्षा की गुणवत्ता के बीच कोई श्रेणीकरण नहीं होता।

संरचना को समझने में आया यह प्रारंभिक अन्तर स्वयं ही पढ़ाने और सीखने के तरीके में व्यक्त होता है। सीखने-सिखाने की प्रकृति, गृहीत अर्थ के सिद्धांत से निर्मित होती है। प्रत्यक्षवादी व्यवस्था में पढ़ाने और सीखने की प्रक्रिया इस विचार पर टिकी

होती है कि तथ्यों के मतलब वस्तुनिष्ठ रूप में दिये जा चुके हैं, जो समान रूप से सब जगह हासिल किए जा सकते हैं। अतएव आदर्श स्थितियों में ही एक संपूर्ण संवाद स्थापना संभव है। परिणामस्वरूप पढ़ने की भौतिक स्थितियों और ज्ञान के आनुभविक आधार के उत्थान पर लगातार बल दिया जाता है। माना यह जाता है कि किसी भी चीज का वैज्ञानिक असंदिग्धता के साथ एक भौतिक वस्तु के रूप में अध्ययन किया जा सकता है, और वे भी जो पढ़ने-पढ़ाने एवं सीखने-सिखाने का काम कर रहे हैं, स्वयं भी एक भौतिक वस्तु के रूप में अध्ययन किए जा सकते हैं, जिससे उनके व्यवहार को इच्छित स्तर तक पहुंचाया जा सकता है। चूंकि चीजें स्पष्ट रूप से पभाषित होती हैं और उन्हें नियंत्रित किया जा सकता है, अतः यह विश्वास करना तर्क संगत है कि सत्य को आदान-प्रदान के रूप में बच्चों तक संप्रेषित किया जा सकता है।

जिस प्रकार से पाठ और रचनात्मकता को आत्मसात किया जाता है और एक दूसरे से जोड़ा जाता है उससे इस बात का पता चलता है कि किस प्रकार ज्ञान का सृजन किया जाता है एवं युक्तियुक्तता प्रदान की जाती है। पाठ के संदर्भ में पायी जाने वाली समझ में पाठ की युक्तियुक्तता भी अर्थ को अपने ही क्षेत्र में परिसीमित कर लेती है। इसका प्रमाण यह होता है कि पाठ्य-पुस्तकों को प्रधानता मिल जाती है। यह पाठ को खुलेपन का विरोधी बना देती है। यह पाठ में अन्तर्निहित ज्ञान से अलग अन्य वैकल्पिक ज्ञान स्रोतों को खारिज कर देती है। यह करके सीखने के महत्व को घटा देती है। गतिविधियों की बहुलता पाठों की सामग्री को कम कर देती है। प्रायः गतिविधियों की एक पाठ्य-पुस्तकीय प्रकृति होती है, वे प्रचलित संदर्भों में हस्तक्षेप नहीं करतीं। यहां तक कि वे मौखिक कौशल के महत्व को तथा लेखन कौशल की वरीयता को हाशिए पर ढकेल देती हैं। पाठ को अच्छी तरह से आत्मसात करने का मतलब है कि वह लिखने में ज्यों का त्यों पुनर्उत्पादित कर दिया जाये।

अन्ततः वह चिंतन प्रक्रिया रचनात्मकता की एक खास पहचान होती है जो इस प्रकार के पाठों के निर्माण का निर्देश करती है। प्राकृतिक परिघटनाओं के संदर्भ में रचनात्मकता का अर्थ होता है, अज्ञात तथ्यों एवं उनके अंतर्सम्बन्धों की खोज। अन्य सभी संदर्भों में यह पूर्व ज्ञात तथ्यों का विस्तार ही होता है जो इसे समझने में सहायक होता है किंतु आवश्यक नहीं होता। पाठ एवं रचनात्मकता के अन्तर्सम्बन्धों को एक ऐसी समकालीन शब्दावली अच्छी तरह उजागर करती है, जो शिक्षा में वांछित गुणों को दर्शाने के लिए अलग-अलग तरह से प्रयुक्त होती है। यह शब्दावली है - आनन्ददायी शिक्षा (ज्वाय ऑफ लर्निंग)। मध्यप्रदेश के अधिकांश सरकारी प्राथमिक विद्यालयों में यह आनन्ददायी शिक्षा जिस रूप

में दिखती है, वह एक प्रकार का त्रासद प्रहसन ही है। यह इस विश्वास से उत्पन्न होती है कि गंभीर शिक्षा आनन्ददायी नहीं हो सकती। अधिगम को प्रभावी बनाने के लिए आनन्द को इसमें किसी तरह से सम्मिलित किया जाता है ताकि बच्चा इस भुलावे के प्रति आकृष्ट रहे कि वह सचमुच ही पढ़ने के साथ-साथ खेल रहा है। शिक्षक और बालक का इस तरह की अन्तर्क्रिया में विश्वास तब खंडित हो जाता है, जब बालक यह जानकर कि खेल के बहाने उसे गणित सिखाया जा रहा है, खेलने से इंकार कर देता है।

बच्चों द्वारा खेल (सीखने के आनन्द) को इस प्रकार नकारे जाने पर शिक्षकों की प्रतिक्रियाएं दिलचस्प और हास्यास्पद होती हैं। शिक्षक प्रायः संगीत, नृत्य एवं मूकाभिनय के खजाने को ही आनन्द का स्रोत मान लेते हैं। शिक्षा के आनन्द का यह रूप प्रथमतः तो उत्तेजना एवं राहत प्रदान करता है क्योंकि यह शिक्षा की परम्परागत परोक्ष एवं ऊबाऊ शिक्षण-शैली को त्यागता है। लेकिन तुरन्त ही यह खुद भी एक ऊबाऊ शैली में परिणत हो जाता है। ऐसा तीन मुख्य कारणों से होता है। पहला, रोचक शिक्षण एवं अभिव्यक्ति का यह प्रारूप न तो बच्चों का होता है और न ही शिक्षकों का। यह विवेक के अन्य स्रोतों,

जैसे शाब्दिक पाठों के रूप में, अन्यत्र निर्मित होकर उन तक पहुंचता है। दूसरों की खुशी संबंधी मान्यता में खुशी ढूंढना बहुत कठिन है, जब तक कि यह व्यक्ति की आन्तरिक अनुभूत भावनाओं से जुड़ाव न स्थापित कर ले। यह दूसरी समस्या है। प्रायः आमतौर पर इन रोचक कृत्यों को प्रभावशाली भौतिक जामा पहना दिया जाता है। समस्या इनके भौतिक स्वरूप में नहीं होती है। मानसिक एवं भौतिक के बीच की दूरी की समस्या (जो कि शिक्षा व्यवस्था में सर्वत्र व्याप्त है) का जन्म इस दृढ़ विश्वास के कारण होता है कि रोचक कृत्यों में विकसित एवं जटिल मानसिक क्षमता की बहुत कम जरूरत होती है। इसीलिए तीसरा कारण इसके साथ जुड़ता है और वह यह है कि चली आ रही पाठ-केन्द्रित शिक्षण पद्धति के विकल्प के प्रति कोई प्रतिबद्धता नहीं बनती। अधिकांश शिक्षक रोचक संगीत एवं नृत्य की कक्षाएं बहुत ही तन्मयता पूर्वक लेते हैं पर वे क्या और क्यों कर रहे हैं इस बारे में विश्वस्त नहीं होते। अधिकांश शिक्षक यह करने के पश्चात् गंभीर शिक्षण की तरफ लौट जाते हैं। प्रायः जब भी किसी रचनात्मक निरीक्षण ऐजेन्सी के औचक निरीक्षण की संभावना होती है तो आनन्दप्रद अधिगम को

प्रदर्शित करने के लिए तुरन्त पाठ-वाचन के स्थान पर संगीत एवं कविताओं की रोचक नाट्य प्रस्तुति की जाने लगती है।

इस प्रकार के शैक्षिक सिद्धांत में सुनिश्चित नाटकीयता के सहयोग से पाठों को आत्मसात किया जाता है। यह याद करने एवं पुनः स्मरण करने की सरल क्रिया में सहयोगी हो सकता है। अर्थात् पाठ को याद करने की क्रिया अभिनयात्मक गीतों एवं नृत्यों के स्मरण द्वारा पूरित होती है। लेकिन इसका प्रभाव भी छोटी उम्र के विद्यार्थी समूहों तक ही सीमित रहता है। अधिक जटिल मानसिक

प्रक्रियाओं में यह प्रभाव एकाएक कम हो जाता है। इसका सीमित उपयोग, रचनात्मकता के सीमित बोध, जो कि खुशी एवं सुन्दरता के भाव को उत्पन्न करने वाले होते हैं, के ऐन्द्रिक संवेगों के क्रियाशील उभार के कारण होता है। यहां खुशी मुख्यतः ऐन्द्रिक होती है एवं सुन्दरता में सजावटीपन होता है।

पाठ्यक्रमों की संरचना से भी यह स्पष्ट है कि ऐसे पाठ्यक्रमों में सौन्दर्यपरक विषयों, जैसे संगीत-चित्रकला एवं नृत्य को हाशिए पर रखते हुए गणित, भाषा एवं विज्ञान को मुख्य स्थान प्राप्त होता है। ऐसी शिक्षा व्यवस्था में हाशिये के क्षेत्र/विषय, केन्द्रीय विषयों से आनन्द के तत्व ग्रहण

करते हैं। आनन्द का यह विभेदन इस संदर्भ में एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य को दर्किनार कर देता है कि आनन्द वस्तुतः सभी प्रकार के ज्ञानार्जन में अन्तर्निहित है। यह अविभक्त आनन्द तभी संभव है जब पढ़ाने का तरीका, पढ़ने वालों में उत्सुकता, प्रश्नाकुलता एवं तार्किकता को जगाए। प्रश्नाकुलता एवं कल्पनाशीलता आपस में जुड़े हुए पक्ष हैं और इन पक्षों को यदि नहीं उभारा जाता है तो तथाकथित आनन्द भी आत्माहीन एवं बेस्वाद हो जाता है। रचनात्मकता का यह बोध सौंदर्यशास्त्र के शास्त्रीय बोध के समीप है, जिसमें किसी सौंदर्यपूर्ण कृति के निर्माण की प्रक्रिया में ही आनन्द समाहित होता है तथा लक्षित-कार्य आनन्द से अभिव्यक्त होता हुआ भी कर्ता की आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है।

विद्यालयों की सांस्कृतिक प्रकृति का भी ज्ञानार्जन के आनन्द की अनुभूति के सीमा निर्धारण पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। श्रेणियों में विभाजित एवं अवैयक्तिक सत्ता के आदर्शों पर निर्मित विद्यालय विद्यार्थी को एक निष्क्रिय प्राणी बना देता है। अनुशासन एवं आज्ञाकारिता जैसे वांछित मूल्यों के माध्यम से विद्यार्थियों को पराश्रित करने पर बहुत ध्यान दिया जाता है। इससे भी बढ़कर बच्चे

यह एक विडम्बना ही है, कि ऐतिहासिक तथ्यों की सत्ता एवं प्रकृति को लेकर होने वाली सारी बहसों की प्रवृत्ति एक ही होती है, इतिहास एक खास समकालीन विचारधारा को स्थापित करने एवं न्यायोचित बनाने वाली आनुभविक परिघटना है। इन बहसों के पैरोकार राज की सत्ता का उपयोग करने का प्रयास करते हैं, ताकि कुछ खास प्रकार के अनुभवों एवं प्राकल्पनाओं को वैध बनाया जा सके।

का सृजन इस प्रकार होता है कि वे क्या बनने की तमन्ना करें, इस बारे में विद्यालय की सत्ता द्वारा वांछित माने जाने वाले विचार को वे चुपचाप मान लेते हैं। कक्षाओं में बातचीत न करना, दूसरे की नकल न करना, प्रश्न न पूछना आदि उक्त विद्यालयीय अनुशासन व्यवस्था के कुछ सामान्य रूप हैं। अतः व्यावहारिक स्तर पर आनन्दमयी शिक्षा के स्वरूप तथा जिसे सही-सही समझा जाता है उसे जो जानते हैं उनके द्वारा, जो नहीं जानते हैं उनको, पदानुक्रम में दिये जाने के बीच एक टकराव होता है। इन मूल्यों के प्रभाव से किसी भी प्रकार के आनन्दपूर्ण ज्ञानार्जन में निर्बाध, निर्भीक अभिव्यक्ति से लेकर स्वतंत्र चिन्तन जैसी रचनात्मकता का सर्वथा अभाव होता है। अतः आनन्दपूर्ण ज्ञानार्जन को स्वरूप प्रदान करने वाली रचनात्मकता संबंधी मान्यता एवं इसको निरूपित या लागू करने वाले निर्दिष्ट तौर-तरीकों में एक तनाव सा होता है। इस ज्ञान की अनभिज्ञता तथा रचनात्मकता के रूप में अभिव्यक्ति के सर्वाधिक बचकाने रूपों का आत्मसंतोषपूर्ण व्यवहार एवं प्रदर्शन एक त्रासदी है, जिसमें आनन्द या तो गायब हो जाता है या ज्ञानार्जन के हाशिए पर चला जाता है। ज्ञानार्जन का आनन्द तभी संभव होता है जब स्वतंत्रता ज्ञानार्जन का अनिवार्य अंग हो।

पाठ की संरचना की निश्चयात्मकता ज्ञान को एक उपनिवेशवादी स्वरूप प्रदान करती है। जिस प्रकार से इतिहास पढ़ाया जाता है - वह इसका एक अच्छा उदाहरण है। प्रभुत्वशाली प्रत्यक्षवादी संस्कृति, इतिहास को तथ्यों के अभिलेख के रूप में प्रस्तुत करती है। इतिहास का अध्ययन, कार्य-कारण संबंधों को ध्यान में रखते हुए साक्ष्यों के आधार पर क्रमागत घटनाओं एवं उनके प्रभावों का विवेचन इस तरह करता है जिसमें प्रभाववादी एवं व्यक्तिनिष्ठ प्रतिक्रियाएं विलुप्त हो जाती हैं। तथ्यों के प्रति यह घोर मोह स्वाभाविक नहीं है। विगत घटनाओं की क्रमागत सूची के रूप में अभिलेखों के संग्रहण के अतिरिक्त इतिहास की कोई और प्रासंगिकता नहीं रह जाती है। इसकी रुचि, इसकी समकालीनता में होती है, जबकि वही समकालीनता वस्तुतः समकालीन विचारधाराओं द्वारा स्थापित किये जाने का प्रयास होती है। ऐसे में इतिहास स्वयं को जायज बताने वाले सिद्धांतों का मंच बन जाता है, जिससे वर्तमान हितों को सहारा मिलता है। इतिहास का काल प्रवाह मानवता का एकरेखीय अग्रगामी प्रगतिशील विकास हो जाता है। प्रगति विचारधारा द्वारा परिभाषित होती है। तथ्यों का निर्माण समकालीन विचारधारा द्वारा होता है, जिसके भौतिक साक्ष्य चुन चुनकर प्रस्तुत किये जाते हैं। छात्रों से इन तथ्यों को याद कराया जाता है, जो स्मरण शक्ति की ज्ञान-पद्धितीय क्रिया के रूप में न होकर, इस ठोस विश्वास पर आधारित होते हैं, कि बच्चे जो आत्मसात कर रहे हैं, वह एक जीवन-दृष्टि है। इतिहास का तथ्य जीवन के सच को निरूपित करता है।

यह एक विडम्बना ही है, कि ऐतिहासिक तथ्यों की सत्ता एवं प्रकृति को लेकर होने वाली सारी बहसों की प्रवृत्ति एक ही होती है, इतिहास एक खास समकालीन विचारधारा को स्थापित करने एवं न्यायोचित बनाने वाली आनुभविक परिघटना है। इन बहसों के पैरोकार राज की सत्ता का उपयोग करने का प्रयास करते हैं, ताकि कुछ खास प्रकार के अनुभवों एवं प्राकल्पनाओं को वैध बनाया जा सके। विद्यालय ज्ञान-मीमांसिक संरक्षण के सर्वाधिक सशक्त माध्यम हैं क्योंकि उनका वस्तुनिष्ठता में अटूट विश्वास होता है। तथ्यों एवं उनकी वस्तुपरकता के प्रति आग्रह यह प्रदर्शित करता है कि उनकी आलोचनात्मक जांच-पड़ताल हो सकती है जबकि होता वही है जो सत्ता के अनुकूल होता है।

दूसरे स्तर पर, किसी खास प्रकार की व्यवस्था के लिए वस्तुपरकता एक खतरनाक दलील साबित हो सकती है। इसे सुनिश्चित करने के लिए सत्तासीन शक्तियां ऐसा करना जारी रखती हैं। वे सभी शिक्षण व्यवस्थाएं एक खास प्रकार की सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था के बारे में बच्चों में आलोचनात्मक दृष्टि पैदा करने की बजाय उनको इस व्यवस्था में फांसने का काम करती हैं। उनको परोक्ष रूप में किसी न किसी प्रत्यक्षवादी दर्शन का सहयोग अवश्य मिल जाता है जो मानव मस्तिष्क को प्रकृति की भांति कुछ वैज्ञानिक नियमों के आधार पर नियंत्रित की जाने वाली वस्तु बना देता है। मानो स्वाभाविक वैज्ञानिक नियमों की भांति सामाजिक नियम भी स्वयं सुस्पष्ट होते हैं।

अर्थों का वैकल्पिक सिद्धांत यह मानता है कि अर्थ हमेशा गढ़े जाते हैं। रचनात्मकता इन नये अर्थों को जानने-समझने की पूर्व शर्त है। अतः संप्रेषण एक रचनात्मक आदान-प्रदान है। जो कहा जाता है उसको सुनने वाला उसकी अपनी तरह से व्याख्या करता है एवं कथित के तत्क्षण अनुवाद से सुनने वाला कथ्य के अर्थ को अपनी तरह से पुनः गढ़ता है। इसलिए संप्रेषण मात्र में एक समस्या अन्तर्निहित होती है। बात कह देने भर से ही अर्थ स्पष्ट नहीं होते बल्कि समान संदर्भ वाली दुनिया के विविध वैयक्तिकता वाले लोगों की सहभागी प्रक्रिया के कारण अर्थ स्पष्ट होते हैं। यह स्थिति एक अतिवादी किस्म के वैकल्पिक अर्थ तथा क्रिया के संबंध बदलने के कारण विश्व की सतत परिवर्तनशील समझ को जन्म दे सकती है। दूसरे स्तर पर ज्ञान-मीमांसिक संतुलन बनाये रखना संभव है क्योंकि वैध प्रयोगात्मक मूल्यों एवं अन्तर्दृष्टियों तथा अल्पकालिक व्यक्तिगत प्रभावों के बीच अंतर किया जा सकता है। इस अन्तर के माध्यम से अनुभवों का सतत परीक्षण/मूल्यांकन किया जा सकता है और अर्थों के उपयुक्त निर्णय या निर्धारण का आधार प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि इसी आधार भूमि पर सर्वसम्मत केन्द्रीय मूल्य एवं विभक्त वैकल्पिक अनुभव अवस्थित होते हैं।

इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं सहमति दोनों के होने की संभावना होती है। इस संतुलन को प्राप्त करना आसान नहीं है क्योंकि इसके लिए बहुत सहिष्णुता अपेक्षित है, चाहे यह ज्ञान-मीमांसीय मुद्दे को लेकर हो या सामाजिक व्यवहार के नियोजन से जुड़े विषयों को लेकर हो। अतः शिक्षा संबंधी चर्चा में इसका महत्व इन दोनों पक्षों में है क्योंकि शिक्षा, मन, स्व एवं विश्व तीनों को संबोधित करती है। यह अनिवार्यतः बहुलतावादी है जो व्यक्तिनिष्ठता एवं वस्तुपरकता के बीच एक उभयनिष्ठ भूमि के सृजन की चेष्टा करती है।

अर्थों का आदान-प्रदान मूलतः एक रचनात्मक क्रिया है, यानी अपना अर्थ निकालने और समझने की अनुगूँज। विद्यालय शिक्षा का माध्यम तभी बन सकता है, जब यह बच्चों को अर्थ-अन्वेषण की उपरोक्त स्थिति के बारे में सचेष्ट करे। जो एक ऐसी स्थिति में है जिसमें छात्र स्वयं है और जहाँ जरूरत है उसकी क्षमताओं को विकसित करने की जिससे कि वह इस स्थिति से निपट सके अर्थात् उसमें स्वतंत्रता की प्रकृति का अर्थ निकालने, चुनने एवं समझने की क्षमता का विकास हो। सीखने का आनंद उस शिक्षा में निहित है जो इस प्रकार की दृष्टि से पोषित हो और जो पाठ को आलोचनात्मक समझ विकसित करने का माध्यम बनाए।

यदि इतिहास के अध्यापन का उदाहरण लें तो बुद्धिवादी-उदारवादी दृष्टि से पढ़ाने पर, कई अलग प्रकार के प्रश्न उठेंगे। कौन-सा इतिहास बच्चे पढ़ेंगे ? एक बच्चा सौ हजार वर्षों की कालावधि को और इसके बीच फैली करीब-करीब निराकार संस्कृति को कैसे अपने मानस पटल पर उतारेगा ? बच्चों में वस्तुतः कहानियों को याद करने की क्षमता होती है। इसलिए बच्चे इतिहास को उसी हद तक आत्मसात कर पाते हैं, जहां तक उनकी कल्पनाशीलता पहुंच पाती है। वे जो आत्मसात करते हैं, वह तथ्य न होकर उनके कल्पनालोक के अनुभवों का पुनः सृजन होता है। संज्ञान, बौद्धिकता के आधार तथा सामाजिक हस्तक्षेप को जमीनी आधार देने में कल्पना की महत्वपूर्ण भूमिका समझी जाती है। इतिहास की कहानी आलोचनात्मक तार्किकता का अवसर प्रदान करती है। ऐसी अवधारणा यह मानती है कि इतिहास, वर्तमान से संबंधित अर्थ प्रदत्त नहीं है, बल्कि 'हमेशा' विद्यमान अभिकरणों/शक्तियों द्वारा अनिवार्य रूप से निर्मित है और ये अर्थ परिघटना-शास्त्रीय,

सांस्कृतिक विविधताओं तथा उनके द्वारा अभिव्यक्त होने वाली बहुलता द्वारा जटिलतापूर्वक निर्मित होते हैं। वस्तुनिष्ठतावादी ऐतिहासिक दृष्टि की महत्वपूर्ण शब्दावलियां स्थान एवं काल, जिनके माध्यम से ऐतिहासिक अनुभवों को कालखण्डों में विभाजित किया जाता है, इस प्रक्रिया में, आलोचनात्मक परीक्षणों के लिए प्रस्तुत होती हैं। इस सोच ने, इतिहास की मूल अवधारणा में, निर्माण एवं

ध्वंस की स्थिति को स्वीकारते हुए इतिहास की समझ और उसके अध्ययन को पुनः परिभाषित किया है।

इस दृष्टिकोण से इतिहास के कथ्य का निर्माण, 'छद्म तथ्यों' के प्रस्तुतिकरण को लक्षित नहीं करता बल्कि क्या 'तथ्य' जैसा लगता है उस पर आलोचनात्मक खोजबीन की क्षमता को उत्प्रेरित करता है। ताकि स्वतंत्र रूप में ऐतिहासिक तथ्यों से संबंधों की स्वायत्तता एवं अपने ही दृष्टिकोणों का आत्मालोचन एवं आत्मपरीक्षण हो सके।

कुछ गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा एक रोचक तरीके से इतिहास पढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है जिसमें बच्चों से पहले अपने ही परिवार का इतिहास निर्माण करने के लिए कहा जाता है। फिर अपने पड़ोस

का और इसी प्रकार क्रमशः धीरे-धीरे स्थान, काल एवं अवधारणा के घेरे को और बढ़ाया जाता है। इस प्रकार के प्रयासों में एक रोचक बात सामने आयी। देखा यह गया कि मध्यप्रदेश के अत्यंत ही पिछड़े एक गांव में बच्चों को अपने ही परिवार का वंश वृक्ष बनाते समय दिक्कतें आयीं। क्योंकि परिवार में पुरुषों का नाम तो आसानी से मालूम था लेकिन अपनी मां और अन्य महिला सदस्यों के नाम यदि पूर्णतः भूले नहीं थे तो ठीक से याद भी नहीं थे। औरतें परिवार के इतिहास से गायब थीं। इस तरीके से खोजबीन न केवल वर्ग पहली की तरह वर्गों को सही तथ्य रखने में सहायता करती है, बल्कि अनुभवजन्य समझ तथा अनुभव की प्रक्रिया पर आलोचनात्मक चिन्तन को प्रेरित करती है। यह बच्चों में ऐतिहासिक चेतना, जो कि बच्चों के स्वयं एवं अपने परिवेश के प्रति आलोचनात्मक प्रतिक्रिया का अनिवार्य अंश होता है, को विकसित करने का प्रयास है। इतिहास कोरा तथ्य न होकर मानवीय चेतना के एक पक्ष के रूप में होता है, अर्थात् इतिहास आनुभविक प्रमाणों को ढूंढ निकालना होकर, मनुष्य की स्थिति को समझना तथा

मध्यप्रदेश के अत्यंत ही पिछड़े एक गांव में बच्चों को अपने ही परिवार का वंश वृक्ष बनाते समय दिक्कतें आयीं। क्योंकि परिवार में पुरुषों का नाम तो आसानी से मालूम था लेकिन अपनी मां और अन्य महिला सदस्यों के नाम यदि पूर्णतः भूले नहीं थे तो ठीक से याद भी नहीं थे। औरतें परिवार के इतिहास से गायब थीं। इस तरीके से खोजबीन न केवल वर्ग पहली की तरह वर्गों को सही तथ्य रखने में सहायता करती है, बल्कि अनुभवजन्य समझ तथा अनुभव की प्रक्रिया पर आलोचनात्मक चिन्तन को प्रेरित करती है।

जीवनदायिनी एवं जीवन विरोधी मूल्यों में विभेद करने का माध्यम होता है। यदि शिक्षा को जीवन के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित करने वाला माध्यम समझा जाये तो विद्यालय स्तर पर अन्तःक्रिया के तरीकों को समकालीन औपनिवेशिक वस्तुनिष्ठतावादी माध्यम के बजाय उपरोक्त वर्णित बुद्धिवादी-उदारवादी माध्यम बनना होगा। इसी सोच के तहत विद्यालय की पाठ्यपुस्तकें जीवन के आलोचनात्मक अन्वेषण के रूप में परिवर्तित होती हैं और व्यक्ति की स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व के विकास को संभव बनाती है।

पाठ्य सामग्री पर खुली चर्चा आवश्यक है। यह चर्चा एक रचनात्मक उलटफेर हो सकता है जो कि एक स्वतंत्र चेतना के विकास का परिचायक है। इस दिशा में किसी भी पाठ्य सामग्री की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह किस हद तक स्वयं के खारिज करने को बढ़ावा देती है।

दोनों ही ज्ञान-मीमांसिक पद्धितीय दृष्टिकोणों द्वारा मूल्यांकन की प्रकृति भी सुनिश्चित होती है।

शिक्षा पर प्रत्यक्षवादी प्रभाव, सबसे अधिक इस बात से दृष्टिगत होता है कि वह शिक्षा को पूर्व सुनिश्चित मापे जाने वाले परिणामों के रूप में तब्दील करने की इच्छा रखता है। यह प्रारंभिक-अक्षर-ज्ञान एवं अंक-ज्ञान के लिए ठीक है। लेकिन अधिक जटिल बौद्धिक प्रक्रियाओं एवं विकास की प्रक्रिया का अवलोकन एवं अनुलेखन करते हुए गहरी समझ के लिए, परिणामों को मापने वाला दृष्टिकोण उपयुक्त नहीं हो पाता। योग्यता पर ध्यान केन्द्रित कर इस तरीके से छुटकारा पाने का प्रयास किया जाता है। मूल्यांकन एक मापन परीक्षण न होकर योग्यता को परखने का प्रयत्न है। योग्यता या क्षमता को अवधारणाओं की समझ में निपुणता के रूप में समझा जा सकता है, जिसका साक्ष्य स्वतंत्र चिंतन, तार्किकता, विविध संदर्भों के बोध की क्षमता एवं विशेषकर पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान को जीवन संदर्भों से जोड़ने की क्षमता आदि से मिलता है। क्षमता-परीक्षण मूलतः विविध पाठ्य सामग्रियों, संदर्भों, स्थितियों के माध्यम से आलोचनात्मक चिन्तन-क्षमता का मूल्यांकन है।

तथापि प्रभावी प्रत्यक्षवादी रुझान ने, योग्यता की समझ में कुछ आश्चर्यजनक विसंगतियों को जन्म दिया है। इनमें पहली है जड़ गतिविधियों की सूची के रूप में इसका अवमूल्यन। ऐसा लगता है जैसे क्षमता एक प्रकार का कौशल है जो किसी गतिविधि द्वारा अभिव्यक्त होता है। यह कौशल प्रायः किसी नियम की जानकारी एवं तदनु रूप व्यवहार करने की क्षमता के रूप में जाना जाता है। जैसे-लेखन, अंकगणित और भाषा के नियम। यहां तक कि व्यवहार के नियम भी इसी दायरे में आते हैं। दूसरी त्रुटि यह है कि अन्तर्वस्तु के बारे में भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गई है। प्रायः शिक्षक

भ्रम में रहते हैं कि योग्यता क्या है, और तथ्य क्या है? यह इस भ्रम के कारण होता है कि क्षमता विकास में यह पूर्णतः भुला दिया जाता है कि बच्चे अपनी तरह से क्षमता का विकास करते हैं एवं उनकी अपनी प्रतिक्रियाओं का मूल्यांकन करके ही क्षमता का मूल्यांकन हो सकता है। इसके बरक्स यह नहीं समझा जाता है कि क्षमता का विकास पाठ्यपुस्तकों की अन्तर्वस्तु से सीधे जुड़ा हुआ नहीं है, और न ही पाठ्यपुस्तकों के आधार पर बनाये गये प्रश्नों के बने बनाये उत्तरों द्वारा इनका विकास या निर्धारण संभव है। फिर भी अनेक कौशल, कई पुस्तकों में क्षमता के रूप में सूचीबद्ध होते हैं एवं शिक्षकों द्वारा क्षमतापूर्णता के रूप में सही का निशान लगा दिया जाता है। बच्चे इन क्षमताओं को पाठ के रूप में रट्टा लगाकर या कवायद करके याद करते हैं।

मध्य प्रदेश में प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों के प्रशिक्षण के दौरान दृष्टिगत एक उदाहरण पर गौर करें। दीवार घड़ी को एक गतिविधि मानकर बड़े यत्न से बच्चों की तरह 'समय कैसे बताया जाये' पर विश्लेषण हुआ। योग्यता संबंधी सभी भ्रम इसमें ठेठ रूप से मौजूद हैं। यहां क्षमता को पढ़ाई जा सकने वाली क्रिया के रूप में देखा गया है। क्षमता-शिक्षण एवं पाठ को पढ़ाने में अन्तर केवल इतना है कि पाठ को पढ़ाने की क्रिया को एक प्रायोगिक क्रिया द्वारा किया गया है, ताकि घड़ी देखकर समय बताने की उपयोगी क्रिया बच्चों की समझ में आ सके। समय की अवधारणा पर कोई विचार करने की कोई कोशिश नहीं की गई। गतिविधियों के माध्यम से अवधारणात्मक बोध बढ़ाने में सहायता मिलती है, पर केवल संबंधों के विश्लेषण को उत्प्रेरित करने के माध्यम के रूप में। इस उदाहरण में गतिविधि के माध्यम से दीवार घड़ी द्वारा समय की समझ को विकसित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। और न ही इसे अन्य माध्यमों से जोड़ा गया ताकि अलग अलग तरीके से विद्यार्थी समय का अनुभव करते हुए समय की अवधारणा के बारे में बेहतर समझ विकसित कर सकें। परिणामतः दीवार घड़ी से समय देखने की गतिविधि समय के बहुआयामी स्वरूप के बारे में आलोचनात्मक समझ विकसित करने में असफल साबित हुई। अनुभूति के रूप में समय, माप के रूप में समय, मौसम और परिस्थिति के रूप में समय, सामाजिक एवं ऐतिहासिक रूपों में समय आदि कुछ तरीके हैं जिससे मानवता स्वतः समय को समझती-बूझती आ रही है। खास करके ग्रामीण क्षेत्रों में जहां सबसे अधिक संख्या में प्राथमिक विद्यालय मौजूद हैं, यदि प्रशिक्षक ने ग्रामीण समुदाय के विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर समय की अवधारणा पर विचार किया होता तो उन विद्यार्थियों के परिचित संदर्भों से अलग दीवार घड़ी का उदाहरण नहीं चुनता, जबकि उन ग्रामीण परिवेशों में दीवारों और घड़ियां दोनों ही नदारद हैं। उल्टे दीवार घड़ी की इस रूढ़िबद्धता से बच्चों में समय

के बारे में जो भी अर्न्तदृष्टि और अनुभव होंगे वे गायब हो जायेंगे तथा अवधारणात्मक विकास एवं योग्यता के विकास की प्रक्रिया अवरूद्ध हो जाएगी। इस तरह योग्यता को स्वयं के स्वार्थ के लिए यांत्रिक गतिविधि के रूप में चिन्तन संकुचित कर दिया गया है, यह सूझ-बूझ या परिचर्चा के लिए नहीं है। अवधारणात्मक ज्ञान पर बल देने की आवश्यकता का विकास इससे नहीं होता। अवधारणा को घटाकर प्रमाणित की जाने वाली वस्तु में बदल दिया गया है। प्रमाणीकरण भी कुछ स्वेच्छाचारी क्रियाओं के संदर्भ में, जो कि ज्यादातर शारीरिक कौशल, अक्षर ज्ञान/अंक ज्ञान संबंधी कौशलों एवं कुछ तथ्यों (जो पुनः सामाजिक एवं वैज्ञानिक तथ्यों का सम्मिलित रूप हैं।) का मिश्रण होता है। यानि साधन, साध्य बन जाते हैं। इस प्रकार योग्यता में आस्था के बावजूद, योग्यता-मूल्यांकन के तौर-तरीके पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान के मूल्यांकन के तरीके जैसे ही रह जाते हैं, जबकि इनका उद्देश्य पाठ्यपुस्तकीय मूल्यांकन को बदलना था।

इस प्रकार वस्तुनिष्ठ एवं अवैयक्तिक तरीके से कराई जाने वाली परीक्षाओं की रूपरेखा तैयार करने पर बहुत बल दिया गया है, और मूल्यांकन के अधिकांश प्रयास परीक्षाओं की रूपरेखा तथा उनके संचालन पर कोई सवाल उठाये बिना ही किये जाते हैं। सही परिणाम प्राप्त करने के लिए, परीक्षा की गोपनीयता बनाये रखने के लिए काफी तकलीफें उठायी जाती हैं, ताकि परीक्षा पूर्व ही प्रश्नों की जानकारी परीक्षार्थी को न हो जाए। इसके अतिवादी रूप में सार्वजनिक परीक्षाओं के संदर्भ में प्रश्नों की गोपनीयता की रक्षा मुख्य चिन्ता हो जाती है, और परीक्षा लेने के लिए सुरक्षा व्यवस्था करना एक बड़े कानून एवं व्यवस्था का रूप धारण कर लेता है। औपनिवेशिक-वस्तुनिष्ठतावादी संस्कृति का ऐसा भयावह रूप, मूल्यांकन व्यवस्था के अतिरिक्त और कहीं भी देखने को नहीं मिलता। यह बना तो इस प्रकार से है कि लोगों को विलोपित, पराजित और निकाल बाहर किया जाए जिससे अभिजात्य व्यवसायों के लिए बहुत थोड़े से खास लोग बच जाएं। यहां तक की परीक्षण विधि के रूप में भी यह असफल हो जाता है। यह ज्ञान का परीक्षण भी नहीं करता। यह जानबूझकर अनभिज्ञता

को उद्घाटित करने का प्रयास करता है। एक प्रकार से यह आज भी अच्छी 'बाबूगिरी' करने वाले लोग, जिनमें तेज लिखने, तेजी से याद रखने और तेजी से हिसाब करने की क्षमता हो, को पहचानने के रूप में प्रकल्पित है। इस प्रकार की परीक्षाएं परीक्षण 'तथ्यों' के

आधार पर अच्छी तरह से टिक पाती हैं। ज्ञान का परीक्षण ज्ञात एवं अज्ञात तथ्यों को जानना, याद किए हुए या भूले हुए तथ्यों को जानने का जरिया हो जाता है। स्पर्धात्मक चुनाव के माध्यम से कुछ खास प्रकार के रोजगार के लिए, लोगों की तलाश के लिए जब उक्त प्रकार की मूल्यांकन प्रणाली सही माध्यम बन जाती है तो यहां शिक्षा की आधारभूत अवधारणा का उल्लंघन होता है।

यदि हम एक बहुत बड़े स्तर पर विद्यालयों की स्थापना करें लेकिन हमें किस चीज का मूल्यांकन करना है, इस पर आलोचनात्मक चिन्तन नहीं करें, और अपने परीक्षण की अवधारणा को उस ऐतिहासिक पद्धति से प्राप्त करें जो कुछ लोगों को लाभ पहुंचाने तथा बहुमत को उस लाभ से वंचित रखने के लिए बनी हो, और हम उस व्यवस्था को ज्ञान के वस्तुपरक संकेतक के रूप में तथ्यों को प्राप्त करने के अथक परिश्रम द्वारा ढोते रहें, तो हम अधिकांश सीखने वाले बच्चों और उनकी संभावना के साथ न्याय कर पाने में सक्षम नहीं हो सकेंगे। यह बात हमें सोचने के लिए मजबूर

करती है कि हम जिस चीज की परीक्षा ले रहे हैं क्या वह वस्तुतः इस लायक है ? इस सबके बावजूद परीक्षाएं यदि मुख्य रूप से स्मरण शक्ति की परख करें, और वह भी एक भयपूर्ण वातावरण में, तो भला ज्ञानार्जन या सीखने की हमारी समझ कैसी है ? क्या यह किसी प्रकार से ज्ञानार्जन है ? इस प्रकार का विमर्श हमें परीक्षा प्रणाली पर पुनः सोचने के लिए इस तरह से बाध्य करता है कि मूल्यांकन को इससे तालमेल न बिठा पाने वाले लोगों को मार गिराने वाले गुप्त हथियार से भिन्न होना चाहिए ताकि वह विद्यार्थियों में समझने का तरीका और शिक्षकों के लिए वस्तुतः सीखी गई सभी चीजों को अभिव्यक्त करने का माध्यम बन सके और अधिकाधिक वस्तुओं के बारे में जानने की उत्सुकता को स्पन्दित करें।

मूल्यांकन सफलता और असफलता का सूचक नहीं है। यह

औपनिवेशिक-वस्तुनिष्ठतावादी संस्कृति का ऐसा भयावह रूप, मूल्यांकन व्यवस्था के अतिरिक्त और कहीं भी देखने को नहीं मिलता। यह बना तो इस प्रकार से है कि लोगों को विलोपित, पराजित और निकाल बाहर किया जाए जिससे अभिजात्य व्यवसायों के लिए बहुत थोड़े से खास लोग बच जाएं। यहां तक की परीक्षण विधि के रूप में भी यह असफल हो जाता है। यह ज्ञान का परीक्षण भी नहीं करता। यह जानबूझकर अनभिज्ञता को उद्घाटित करने का प्रयास करता है। एक प्रकार से यह आज भी अच्छी 'बाबूगिरी' करने वाले लोग, जिनमें तेज लिखने, तेजी से याद रखने और तेजी से हिसाब करने की क्षमता हो, को पहचानने के रूप में प्रकल्पित है।

पढ़ाने और सीखने की प्रक्रिया में अन्तर्निहित है। पढ़ाने और सीखने की प्रक्रिया में मूल्यांकन की इस अन्तर्निहितता को बहुधा शिक्षण व्यवस्था में परीक्षण पद्धतियों का भौतिक एकीकरण कहा जाता है। लेकिन यह 'एकीकरण' अपनी अवधारणा एवं क्रिया, दोनों ही रूपों में बाहरी होता है अर्थात् सूचना इकाई और परीक्षा का योग। या दूसरे शब्दों में कहें तो मूल्यांकन ज्ञान के हस्तान्तरण के बाद आता है। ज्ञानमीमांसीय रूप से देखें तो मूल्यांकन ज्ञान से पहले आता है क्योंकि यह ज्ञान के निर्धारण में पूर्व प्रकल्पित है। इसलिए पहले से ही तय किए गए आवश्यक मूल्यांकन के बगैर ज्ञान संभव नहीं है। कुछ प्रक्रियाओं/विचारों/संवेदनों/अनुबोधों का ज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाना उसकी अवधारणा, मूल्यांकन के नतीजों पर आश्रित है। अतएव इस रूप में पढ़ाना और सिखाना मूलतः एक मूल्यांकन प्रक्रिया है। व्यावहारिक स्तर पर इसका तात्पर्य पढ़ाने से सीखने को अधिक महत्व देना है। यह पढ़ाने और सीखने के सामान्य संबंध को उलट देता है। इससे सीखने की चिन्ता जाहिर होती है और साथ ही यह आकांक्षा भी प्रकट होती है कि, क्या सचमुच सीखना संभव हो पा रहा है? पढ़ाने का इसके अलावा और कोई मतलब नहीं हो सकता? सीखने से ही पढ़ाना अर्थपूर्ण होता है। और इसलिए सीखने से पढ़ाने का आश्रय-आश्रित संबंध है। पढ़ाने को एक वर्चस्वपूर्ण, मौलिक एवं स्वायत्त अस्तित्व प्रदान करने पर इस संबंध को उलटना पड़ता है, तब पढ़ाना शब्द ही अर्थहीन हो जाता है। सीखने के बिना पढ़ाना कुछ भी नहीं होता, इसलिए पढ़ाने की प्रकृति अनिवार्य रूप से मूल्यांकनात्मक है। इस अन्तर्निहित मूल्यांकन के बिना अनुभवों का मात्र भौतिक हस्तान्तरण ही संभव है। अर्थात् उक्त हस्तान्तरण की प्रभावात्मकता का परीक्षण इसकी सफल पुनरावृत्ति से ही हो जाता है (जो कि वर्तमान में सर्वव्याप्त परीक्षा-व्यवस्था की विशेषता है)।

यदि पढ़ाने-पढ़ाने की प्रक्रिया पुनः व्याख्यायित करने की वैसी सतत् प्रक्रिया है जो विभिन्न व्यक्ति-निष्ठताओं में या व्यक्तिनिष्ठ अनुभव तथा प्रदत्त वस्तुपरकता के अनुभव में या व्यक्तिगत तथा सामाजिक में या सार्वजनिक तथा निज में तालमेल बिठाने की चेतना से अनुप्राणित हो, तब प्रभावी ज्ञानार्जन की एक अभिव्यक्ति, उस चेतना को और गहरी तथा विस्तृत बनाने के रूप में होगी जिससे ऐसी आलोचनात्मक निज-चेतना का विकास होगा जो कि अपने आसपास की दुनिया की उचित समालोचना का एक मात्र आधार हो सकता है। शायद इसका सत्यापन बढ़ती हुई आपसी समझ से हो सकता है। इसकी रचना संवाद की प्रक्रिया के जरिये ही हो सकती है। मूल्यांकन एक चैतन्य पद्धति के रूप में तभी प्रभावी हो

सकता है, जब यह समझने का प्रयास हो कि कैसे इसके लिए जगह का निर्माण किया जाए, कैसे इसे शिक्षक और विद्यार्थी के लिए और अधिक सहज, वृहत और वैविध्यपूर्ण बनाया जाए। यह प्रक्रिया दोनों को यह जांचने योग्य बना सकती है कि वे क्या जानते हैं और क्या नहीं। लेकिन यह जांच सकारात्मक होती है, यह न जानने को असफलता नहीं बताती बल्कि जानने के लिए तत्पर बनाती है।

चूंकि विद्यालय में क्या होता है? इसका निर्धारण एक ज्ञान-मीमांसीय दर्शन द्वारा होता है, विद्यालयी प्रक्रिया का निर्धारण उस समुदाय द्वारा होता है जो प्रत्यक्षतः उपस्थित रहता है या नहीं भी रहता। 'समुदाय' शब्द किसी भी अन्य शब्द की तुलना में शिक्षा को एक प्रक्रिया या व्यवस्था के रूप में समझने के लिए अति महत्वपूर्ण है क्योंकि यह कुछ विशेष संस्थाओं से मिलकर गठित होता है। समुदाय शब्द को परिभाषित करना, किसी भी जीवन पद्धितीय शब्दावली की भांति बहुत कठिन है, क्योंकि परिभाषित करने की क्रिया मात्र से ही परिभाषित करने वाले की मध्यस्थता की अनिवार्यता एवं आवश्यकता का जन्म होता है। समुदाय स्वयं तथा अन्य के बीच अलगाव से अपना जोड़ बैठाता है। अलग-अलग ज्ञान-पद्धितीय ढाँचे इस दुराव को जोड़ने का काम समुदायों की अलग-अलग निर्मिति के रूप में करते हैं। समुदाय की अवधारणा जिस प्रकार होती है, उसी से इसका निर्धारण होता है कि किस तरह से शिक्षा को समझा जाये एवं विद्यालय में अधिकांशतः क्या हो।

एक जाना पहचाना तरीका औपनिवेशीकरण का है जो बहुत सहजता से दो धुर विरोधी दृष्टिकोणों में सामंजस्य बना लेता है, उसमें समुदाय निषेध के जरिये परिभाषित होता है, मानो वह ही नहीं। उसके बाहर जो कुछ भी दिखाई देता है वह केन्द्र का रूप होता है तथा एक सीमा के ऊपर वह अनाभिमत, विशेषज्ञता रहित, बिखरा हुआ और अदृश्य होता है। इनसे जुड़े हुए मुद्दों के लिए इन से सलाह मशविरा किया जा सकता है, लेकिन यह मशविरा उन निश्चित समूहों के प्रतिनिधियों से होना अपेक्षित होता है जिनको उपनिवेशक द्वारा प्रबुद्ध समझा जाए। किसी वास्तविक समुदाय के अस्तित्व में न रहने के कारण कुछ ऐसे वर्ग ही कार्यरत रहते हैं जिनके हित समान होते हैं लेकिन जो प्रायः एक दूसरे से सामंजस्य नहीं रख पाते। ऐसी स्थिति में केन्द्र ही वह सत्ता बन जाता है जो समान हित के मुद्दों पर विचार-विमर्श कर सकता है। दूसरे विचार इसी के प्रकृति-जनित बच्चे की तरह रूमानी तरीके से समुदाय को कलुषविहीन मानते हैं और उनके अनुसार उसका अस्तित्व सामूहिक हित की भावना और सहमतिपरक मूल्यों से बंधा होता है।

ये दोनों ही धुर विरोधी विचार एक ही औपनिवेशिक ढांचे में अन्तर्निहित हो जाते हैं। दोनों ही समुदाय को एक वैध, सर्व-सहमतिपूर्ण ढांचे में देखते हैं। एक दृष्टिकोण एक छोटे से सर्वसम्पन्न अभिकरण के अलावा उक्त ढांचे के अन्य रूप की संभावना को खारिज कर देता है और इसलिए धुंधली बिखरी हुई आवाजों के अलावा इसके बाहर किसी सुसम्बद्ध समुदाय की उपस्थिति को मानने से इंकार कर देता है।

दूसरा दृष्टिकोण इसे स्वीकारता है लेकिन यह स्वीकारोक्ति स्वयं की समझ के माध्यम से होती है। आन्तरिक लोगों की आवाज को वैधता बाहरी लोगों द्वारा दी जाती है।

समुदाय को 'अन्य' के रूप में परिभाषित करने वाला औपनिवेशिक दृष्टिकोण ऐसे विद्यालय का निर्माण करेगा, जिसमें सामाजिक, भौतिक एवं वैचारिक रूप में दूरस्थ सत्ता के द्वारा यह तय होगा कि विद्यालय में क्या और कैसे पढ़ाया जाये। जो पढ़ाया जाएगा, उसको पढ़ने से अधिकांश बच्चों पर प्रभाव बहुत कम पड़ने की संभावना रहेगी। इस प्रकार के ज्ञानकोष के निर्माण के पीछे दो मुख्य भाव हैं। प्रथम, अम्यस्तात्मक-बोधात्मक एवं दूसरा आधिपत्यात्मक। एक कुलीन समूह के पास तात्कालिक औपनिवेशिक प्रशासन की आवश्यकता के अनुरूप निर्मित पदों के लिए आवश्यक, खास ज्ञान उपलब्ध होता है। इसी ज्ञान को सार्वभौमिक बनाया जाता है। चूंकि इस ज्ञान की उपयोगिता सीमित है, अतएव यह सभी के लिए समान अवसर, समान रूप से नहीं बढ़ाता। सार्वभौमिक ज्ञान के रूप में सत्यापित होने एवं अपने उपयोग में अनन्यता के कारण यह वस्तुतः असमानता को बढ़ाता है। दरअसल, यह असमानता को मिथकीय ढांचे में ढालकर एक खास वर्ग के लक्षणों, मूल्यों एवं हितों को ज्ञान के रूप में मूर्त रूप प्रदान कर देता है। अर्थात् जो आकस्मिक या युक्तियुक्त होता है - वह सार्वभौमिकता, वस्तुपरकता, सत्यता एवं मूल्य की सादृश्यता ग्रहण कर लेता है। असमानता स्वीकार्य हो जाती है क्योंकि इन सांस्कृतिक स्वरूपों का ज्ञान के रूपों में गुणगान अधिकांश व्यक्तियों में हीनता का बोध कराता है। पाठ एक रहस्य बन जाता है जिसके बारे में समुदाय प्रश्न नहीं उठा सकता। पाठक समुदाय

अपने आपको इस अधिकार से भी वंचित कर लेता है कि वह जो उचित सोचता समझता है, उसको सीखने का उसे भी हक है। इसके विपरीत वह उस शिक्षायी ढांचे को बनाने वाले की अधीनता में पहुंचा देने वाली शिक्षा को ही प्राप्त करने की मांग करने लगता है। जीवन और सीखने के बीच एक विसंगति उत्पन्न हो जाती है। शिक्षित समुदाय में व्यापक बेरोजगारी, ज्ञान को प्राप्त करने में किये गये श्रम से उत्पन्न थकान तथा उससे उत्पन्न हताशा से शिक्षा व्यवस्था द्वारा स्थापित ज्ञान और जीवनयापन के लिए आवश्यक

हुनर एवं कौशल, के बीच असमानता उत्पन्न की जाती है जो कि एक अपूर्ण, विजातीय एवं असमान दुनिया को समझने की जरूरत महसूस कराती है। व्यवस्था की यह असफलता अपरोक्ष रूप से समझ में आने लगी है, लेकिन इसके निवारण का प्रयास बहुत दयनीय स्थिति में है। जीवन के लिए गैर-प्रासंगिक हो चुके पाठ्यक्रमों में इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। पूर्व निर्धारित ज्ञान की संरचना अधिकांश लोगों के अनुभव एवं अन्तर्दृष्टि की उपेक्षा करती है, जिसकी परिणति व्यवहारिक कौशलों तथा - 'जीवन' संदर्भों से सीखने के 'अनगढ़' स्रोतों के वैकल्पिक ढांचे को नकारने के रूप में होती है।

यह आश्चर्य नहीं है कि इसने सैद्धांतिक और व्यावहारिक, दो जुदा तहजीबों को जन्म दिया है, जिसमें पहली

जहजीब को विशेष वरीयता प्राप्त है। यह आधारभूत जीवन कौशलों को मूल्यहीन बना देती है। यह एक सिद्धांत का निर्माण भी करती है जो स्वयं के संदर्भों से कटा हुआ एक ऐसे आदर्श का सृजन करता है जो ऐतिहासिक रूप से इसके ऊपर प्रभुत्व रखने वाली संस्कृति को आदर्श मानता है, और उस अनुपस्थित सत्ता से अपने सत्यापन का प्रयास करता है। आधुनिक विश्व में भारत की स्वविकसित वैचारिक चिन्तन धारा की कमी का यह सबसे बड़ा कारण है। और इसी कारण, भारत का बौद्धिक एवं अकादमिक वर्ग बाहरी बौद्धिकता के साथ अनुकरणात्मक एवं बारम्बार दुहराए जाने वाले संबंधों के द्वारा आत्मश्लाघा से ग्रस्त होकर जड़ हो चुका है। औपनिवेशिकरण की अंतिम परिणति यही है कि हम अपने शोषकों जैसा ही बन जाने का प्रयास करें। इसकी शुरुआत विद्यालय से होती है। समुदाय एवं

समुदाय को 'अन्य' के रूप में परिभाषित करने वाला औपनिवेशिक दृष्टिकोण ऐसे विद्यालय का निर्माण करेगा, जिसमें सामाजिक, भौतिक एवं वैचारिक रूप में दूरस्थ सत्ता के द्वारा यह तय होगा कि विद्यालय में क्या और कैसे पढ़ाया जाये। जो पढ़ाया जाएगा, उसको पढ़ने से अधिकांश बच्चों पर प्रभाव बहुत कम पड़ने की संभावना रहेगी। इस प्रकार के ज्ञानकोष के निर्माण के पीछे दो मुख्य भाव हैं। प्रथम, अम्यस्तात्मक-बोधात्मक एवं दूसरा आधिपत्यात्मक।

सरकार एक दूसरे के लिए 'अन्य' बन जाते हैं। शिक्षा राज्य का कल्याणकारी पैकेज बन जाती है, समुदाय के सीखने का माध्यम नहीं बन पाती। संप्रभुतापूर्ण वातावरण में विद्यालय, औपनिवेशिक संस्कृति को बनाए रखने और आगे बढ़ने का जरिया बन जाता है, यह यथास्थितिवाद की कार्यशाला बनकर एक ही सांचे में ढलकर निकलने वाले बच्चों का निर्माण करता है। जब तक कि विद्यालय की सत्ता के ढांचे में इसको एक सामुदायिक संस्था के रूप में पुनर्निर्मित करने के लिए बदलाव नहीं होगा तब तक विद्यालय में 'सीखने' की गुणवत्ता में गंभीर समस्याएँ मौजूद रहेंगी।

समुदाय के वर्तमान अवबोध में शारीरिक आक्रामकता का एक शक्तिशाली तत्व विद्यमान है। जबकि समुदाय की सामूहिकता, स्थानिककालिक पहचान के रूप में होती है। स्थानिककालिक संदर्भ एक जुड़ाव के बोध, एक संगतता और एक सामूहिक पहचान की भावना का निर्माण करते हैं, जिसे समुदाय को परिभाषित करने के लिए आवश्यक माना जाता है।

समुदाय की इस छवि के कारण शिक्षण-व्यवस्था, समुदाय को स्वयं से जोड़ने में, पाठ्यक्रमों को प्रासंगिक बनाने एवं समता के लिए हस्तक्षेप करने वाला बनाने में घबराती है। ये प्रमुख समस्याएँ इसलिए अपरिहार्य हैं क्योंकि इन्हें शिक्षण की अवधारणा का अविभाज्य अंग न मानकर बाहरी मान लिया जाता है।

अन्तर्सम्बन्धता के आधार पर समुदाय की अवधारणा के संदर्भ में ये स्वीकारना पड़ेगा कि समुदाय के भीतर पाया जाने वाला दृश्य और ठोस जुड़ाव लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता है। यह आकर्षण परिवर्तनशील होता है, अतः समुदाय कभी स्थायी नहीं हो सकता, यह आन्तरिक रूप में स्तरीकृत एवं परिवर्तनशील होगा जिससे इसकी परिभाषा एवं इसका नामकरण संभव नहीं हो पाएगा। क्योंकि किसी एक नाम का चुनाव कुछ लोगों को अपने में जानबूझकर सम्मिलित नहीं कर पायेगा। यदि यह चुनाव सोच समझ कर किया गया हो तो समुदाय की अवधारणा की प्रासंगिकता केवल खास संदर्भ में होगी। बेहतर यह होगा कि उसे एक हित समूह के रूप में जाना समझा जाए। समुदाय की अवधारणा को इससे ऊपर उठना होगा। इसके लिए हमें समरूपता की मांग से और आगे बढ़ना होगा।

समुदाय का एक और बुद्धिवादी-उदारवादी सृजन संभव है। इस स्थिति में समुदाय को अपनी भौतिक सामूहिकता की उस दृष्टिगत पहचान से ऊपर उठना होगा जिसमें चुनाव की स्वतंत्रता एवं बुद्धिपरकबोध के रूप में व्यक्ति की क्षमता का अर्थ मात्र सामाजिक-भौतिक प्रतिनिधित्व के रूप में होता है। स्थानिक-कालिक,

सांस्कृतिक या समरूपता किसी भी प्रकार से सर्व सहमति की शर्त नहीं बन पाएगी। सभी मतभेदों के बावजूद एक साझी समझ विकसित हो सकती है, क्योंकि व्यक्तियों की सार्वजनिक एवं निजी दुनिया को व्याख्यायित करने, चुनने एवं उससे संबंध स्थापित करने की क्षमता में हुए विकास से इसमें सहायता मिल सकती है। हित की चिन्ता समुदाय को पूर्णतः समझने या व्याख्यायित करने में सक्षम नहीं है। मूल्यबोध इसके लिए आवश्यक है। वह क्षमता, जिससे विशेष एवं सामान्य में, व्यक्तिनिष्ठता एवं निर्वैयक्तकता में तालमेल बैठ सके, जो अभिव्यक्त मूल्यों की चेतना की भूमिका का निर्माण करती है एवं जिससे 'अन्य' को निज समझने की क्षमता का विकास होता है। इससे समुदाय का निर्माण होता है।

शिक्षा का अभिप्राय भी यही है

इस प्रकार समुदाय का तात्पर्य समूह के बजाय सामूहिक संप्रेषण हो जाता है। समुदाय समान रूप से संप्रेषित करने की क्षमता है। इसकी उत्पत्ति तभी संभव है जब सबको अपनी क्षमता को विकसित करने का समान अवसर प्रदान किया जाए। अंतिम विश्लेषण में, समुदाय का तात्पर्य समान क्षमता एवं समान स्वतंत्रता विकसित करना या उसके लिए प्रयास करना है। इसलिये समुदाय का मतलब परिभाषित कार्य-सूची पर सर्वसहमति न होकर, इससे भी बढ़कर विविध कार्य-सूचियों को विवेक के आधार पर स्वीकार करने से होगा। विवेकशील आधार का संप्रत्यय मोटे तौर पर मानवीय मूल्यों जैसे - स्वतंत्रता, न्याय, समानता, मतभेदों को अपने स्तर पर दूर कर लेना, भिन्नता होते हुए भी जुड़े रहने की सर्व-सहमति को परिलक्षित करता है।

समुदाय का अर्थ न्याय-नीति को इंगित करता है, समरूपता या सामान्यता को नहीं।

न्याय-नीति, साझी क्षमता के स्तर पर मतभेदों के सहअस्तित्व को स्थान देती है। इस समता को भौतिकतावादी, वितरणात्मक समता समझने का भ्रम नहीं पालना चाहिए। भौतिक संसाधनों से यह प्रभावित हो सकती है। लेकिन उनका महत्व केवल साधनात्मक होगा। यह व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं क्षमता के रूप में समझी जाने वाली योग्यता है जिसके आधार पर वह बेहतर विकल्पों का उपयोग करता है। समुदाय की अवधारणा इस धरातल पर अवस्थित है। समुदाय की इस अवधारणा में तनाव एवं द्वन्द्व अनिवार्य एवं आवश्यक रूप से विभिन्न शक्तियों की अंतःक्रिया के अंग के रूप में जुड़े हुए हैं। वस्तुतः आंतरिक सत्ता और बाह्य सत्ता के अंतर संबंध तनावरहित हो सकते हैं, पर इससे समुदाय की रचना नहीं हो सकेगी। शिक्षा, समुदाय, स्वतंत्रता एवं समता के विचार में पारस्परिक संबंध हो जाते

हैं, लेकिन जो शिक्षा इन अवधारणाओं को अपने से अलग परंतु वांछनीय गुण मानकर स्वयं को पूरा करने का प्रयास करेगी, वह शिक्षा नहीं होगी। इसलिए यह आश्चर्य नहीं है कि जिस विद्यालय में बच्चों में सीखने की भावना का उदय हो जाता है, वे विद्यालय, समुदाय की पहचान एवं आकांक्षाओं की धुरी बन जाते हैं।

‘शिक्षा एक साधन है या साध्य’ की बहस ज्ञान-मीमांसिक व्याख्या पर निर्भर है। बुद्धिवादी-उदारवादी दृष्टिकोण में, मूल्यों के विशिष्ट स्वरूपों का सार्वभौमिक के साथ निर्धारण न करने के बजाय, इस बात पर बल दिया जाता है कि कैसे बौद्धिक रूप में मूल्यों में अन्तर किया जाये और इस क्षमता का विकास कैसे हो कि व्यक्ति द्वारा लिये गये निर्णय किस प्रकार उसके एवं समाज दोनों के लिए अंततः लाभकारी हों। मूल्यों की बेहतर समझ के लिए प्रयास करते रहने की आवश्यकता की यह चेतना ही मानव अस्तित्व को परिभाषित करती है।

पुनः ‘क्या पढ़ाया जाता है?’ के बजाय ‘कैसे पढ़ाया जाता है?’ से मूल्य बोध निर्मित होता है। इस तथ्य का पता पाठ्यपुस्तकों पर आवश्यकता से अधिक आत्मचिंतित ‘मूल्यों’ के दबाव और सामान्य तौर पर मूल्य व्यवस्था में व्याप्त विखण्डन के प्रति चिंता संबंधी इस आधुनिक विरोधाभास से चलता है। मूल्यों का निर्माण अच्छे या बुरे के बारे में स्पष्ट आदेशों या तानाशाही निर्देशों से नहीं होता। मूल्यों का निर्माण समालोचनात्मक शक्तियों के निर्माण से होता है जिनमें कल्पनाशीलता एवं विश्लेषणपरकता का समावेश होता है। कल्पनाशीलता अन्य को निज के रूप में देखने और अनुभव करने की क्षमता प्रदान करती है ताकि एक वैश्विक सहानुभूति की भावना पनप सके। इसके बिना मूल्य इतने विशिष्टतावादी एवं सापेक्षिक हो जाते हैं कि उनका मूल्य के रूप में महत्व ही समाप्त हो जाता है। विश्लेषण, अन्तर करने, सही बुरे का निर्णय करने तथा निष्कर्ष निकालने वाली चिंतनशीलता को बढ़ावा देता है। मूल्य के क्षेत्र का निर्माण स्वतंत्रता और मूल्यांकन के विकल्पों के प्रयोग की चेतना से होता है, बार-बार दोहराये जाने वाले प्रतिक्रियात्मक व्यवहार से नहीं। दुर्भाग्यवश मूल्यों का सारा विमर्श मूल्य शिक्षा और संशयात्मक बहुलवाद की मांग करने वालों की हठधर्मिता से निरर्थक हो गया है। पहली किस्म के लोग, मूल्यों की रक्षा में मूल्य चेतना को, सूक्ति और व्यवहार के मापदण्डों के रूप में उनका अवमूल्यन कर, उन पर होने वाली बहस को निरुत्साहित कर देते हैं। दूसरी किस्म के लोग अभिलाषा और हित के रूप में इसका मान घटा देते हैं। मूल्य, मानवीय आदर्शों की अभिव्यक्ति करते हैं। वैचारिक स्तर पर उनके सर्व-स्वीकार्य स्वरूप हो सकते हैं जैसे -

स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व। आनुभविक स्तर पर उनकी विशिष्ट ऐतिहासिक अभिव्यक्तियां अलग-अलग हो सकती हैं क्योंकि अवधारणाओं के अमूर्त स्तर पर सर्व-सहमति होने के बावजूद उनकी व्याख्या अलग-अलग होती है। यही कारण है कि चेतना, कल्पनाशीलता एवं तार्किकता के एकीकरण के रूप में समझी जाने वाली समालोचनात्मक शक्तियों के निर्बाध विकास की मांग करती है।

मूल्यों की इस परिचर्चा के संबंध में, पाठ्यक्रमों पर हाल में हुई कला एवं विज्ञान संबंधी अधिकांश बहसों को देखा जा सकता है। इस बहस के पीछे काफी गंभीर वस्तुनिष्ठतावादी पूर्वाग्रह छुपे हुए हैं। कला को निचला दर्जा प्राप्त होता है क्योंकि तथ्यों के सत्यापन से उनका कोई लेना देना नहीं है। पाठ्यक्रमों में उनकी अवस्थिति, मात्र उनके औचित्य प्रदर्शन के लिए होती है। साहित्य एवं समाज अध्ययन (वास्तव में समाज विज्ञान) को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने पर बल दिया जाता है। इस बात को भुला दिया जाता है कि कला और विज्ञान दोनों का उद्देश्य आलोचनात्मक शक्तियों को बढ़ाना है। दोनों के माध्यम एवं क्षेत्र अलग हैं पर दोनों परस्पर सहयोगी हैं। विज्ञानों द्वारा विश्व की भौतिक प्रकृति को समझने, मानव-मस्तिष्क को प्रशिक्षित कर उनका अवलोकन करने और उनके साथ तालमेल बैठाने जैसे मामलों से निपटते हैं। कला, मनुष्यों की दुनिया से संबंध रखती है - इसके द्वारा मानवीय मूल्यों के प्रति जागरूकता जैसे मामलों से निपटते हैं। कला, मनुष्यों की दुनिया से संबंध रखती है - मानवीय व्यवहारों के बारे में सिद्धांत निरूपण के लिए नहीं, अपितु मानवीय मूल्यों के प्रति जागरूकता को मनुष्यों के मन में बैठाने का प्रयास करती है ताकि वे मूलभूत प्रश्न पूछने योग्य बन सकें। मानव-जीवन का अभिप्राय क्या है? अच्छा क्या है? इन प्रश्नों के प्रति संवेदनशीलता मानव-चेतना में कर्तव्य-बोध का पक्ष जोड़ती है, जिसके कारण ही अपने और पराये में तालमेल स्थापित हो पाता है। और इसके कारण वैज्ञानिक उपकरणों एवं भौतिक संसाधनों के उपयोग की सुनिश्चितता तय होती है। निजता की चेतना के संकट और उत्तर आधुनिक एवं विखण्डनवादी विचार-प्रवाह में इसकी साफ-साफ नकारोक्ति ने भौतिक विश्व को समझने का संकट पैदा किया है। परिस्थितिकी के सभी मुद्दे अनिवार्यतः नैतिक मुद्दे हैं; क्योंकि मनुष्य प्रकृति से स्वयं को कैसे जोड़ता है इसका संबंध स्वयं मनुष्य-मनुष्य से कैसे जुड़ता है, से है और यह बात इस पर निर्भर करती है कि मनुष्य-मनुष्य को कैसे देखता है। ♦